● *संगति*

अब इसी अश्वत्थ वृक्षके विस्तारका वर्णन करते हैं—

२

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।

'उस (अश्वत्थ वृक्ष) की शाखाएँ (टहनियाँ) नीचे और ऊपर भी फैली हुई हैं। सत्त्व, रज, तमरूप गुणोंसे यह बढ़ी हुई हैं। विषय इसके कोमल पल्लव हैं। नीचे मनुष्यलोकमें कर्मसे बनी इसकी जड़ें (जटाएँ) चारों ओर फैली हैं।'

'अधश्चोर्ध्वं' इस अश्वत्थ वृक्षकी बड़ी-बड़ी शाखाओंका वर्णन पहिले श्लोकमें हो गया है, अब छोटी शाखाओं–टहनियोंका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे ऊपर-नीचे दोनों ओर फैली हैं। 'ऊर्ध्वमूलं'वाला 'ऊर्ध्वं' यहाँ नहीं है। यहाँ 'अधश्च ऊर्ध्वं च'–का वर्णन 'मनुष्यलोके'की अपेक्षासे है। कहाँसे ऊपर नीचे? क्योंकि हम जहाँ होते हैं, वहींसे ऊपर या नीचेकी कल्पना करते हैं। अतः हम जहाँ हैं, उस मनुष्यलोक इस पृथिवीसे नीचे अतल,

वितल, सुतल, महातल, तलातल, रसातल, और पाताल—ये सात लोक और पृथिवीसे ऊपर स्वर्ग, महर्लोक, जनलोक आदि ब्रह्मलोकतकके लोक—ये 'अधश्चोर्ध्वं'के द्वारा बताये गये हैं। यह मनुष्यलोक इनका मध्य लोक है।

'गुणप्रवृद्धाः' ये शाखाएँ—टहनियाँ गुणोंसे बढ़ी हैं। जिस गुणमें स्थित हैं, उस ओर वह बढ़ता है।

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

यह वर्णन सम्पूर्ण विराट्का नहीं है। यह एक ब्रह्माण्डकी बात कही जा रही है। इसमें जो सत्त्वगुणमें स्थित लोग हैं, वे स्वर्गादि ऊपरके लोकोंमें जाते हैं। जो रजोगुणी हैं, वे पशु-पक्षी आदि अथवा मनुष्य बनकर पृथिवीपर ही रहते हैं और जो तमोगुणी हैं, वे नरकोंमें जाते हैं।

'विषयप्रवालाः' पीपलके पत्ते जब पहिले निकलते हैं तो लाल-लाल और बड़े लुभावने होते हैं। इस संसार अश्वत्थ वृक्षके नये पत्ते विषय हैं। इन विषयोंका लुभावनापन ही आकर्षक है। पत्ते पीछे हरे हो जाते हैं। सूखते समय पीले पड़ जाते हैं और टूटकर गिरे पीपलके पत्तेकी उपमा तो जीवन्मुक्तके शरीरसे दी जाती है। जैसे पीपलका टूटा पत्ता, जहाँ वायु ले जाती है, वहाँ उड़ता फिरता है, वैसे ही जीवन्मुक्तका अपने शरीरकी स्थितिमें कोई आग्रह नहीं रहता। वह धूलिमें पड़ा रहे या गद्देपर, उसपर कीचड़ लिपटे या चन्दन, उसे माला पहिनायी जाय या उसका तिरस्कार हो, इसपर उस महात्माकी दृष्टि ही नहीं जाती।

'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि' वट वृक्षमेंसे बहुत-सी जटाएँ निकलकर पृथिवीमें चारों ओर प्रवेश कर जाती हैं और वही वृक्षको रस देने लगती हैं। वृक्षकी मूल जड़का पीछे लोप हो जाता है। ऐसे बड़े वट वृक्ष देशमें अनेक हैं। कलकत्तामें एक वट वृक्ष है, एक नर्मदा किनारे शुक्लतीर्थके सामने दूसरे तट पर है, जिसे कबीरवट कहते हैं, एक मद्रासमें अडचार लाइब्रेरीके पास है। इन सबमें जटाएँ ही चारों ओर फैली हैं। वही वृक्षको रस पहुँचाती हैं। वृक्षके मूलका अब पता ही नहीं है। इसी प्रकार कर्मानुबन्धी ये जटाएँ इस अश्वत्थ वृक्षके चारों ओर फैली हैं और उन्होंने जो ऊर्ध्वमूल परमात्मा है, उसे अदृश्य कर दिया है।

ये वृक्षकी जटाएँ पृथिवीसे रस लेने लगती हैं, इसी प्रकार वासनाके रागका रस इन संसार वृक्षकी जटाओंसे आता है। 'ऊर्ध्वमूलं' में एक मूल परमात्मा बतलाया गया है और यहाँ 'मूलानि' बहुवचन द्वारा बहुत-सी जड़ें कही गयी हैं।

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'

यह बात आगे आनेवाली है। वहाँ दृढ़ असंगशस्त्रके द्वारा इन्हीं 'कर्मानुबन्धी' जड़ोंको काटनेको कहा गया है; क्योंकि कोई समझे कि समय पाकर वासना स्वतः मर जायेगी, तो ऐसा नहीं हुआ करता। ये जटाएँ बढ़ती ही रहती हैं। इन्हें तो काटना ही पड़ता है।

एक आमका बीज है। उसे तोड़कर देखो तो उसमें आमके वृक्ष, पत्ते तथा फलका कुछ पता नहीं लगेगा! किन्तु जब वह पृथिवीमें बोया जाता है तो भूमिसे रस लेकर उग आता है।

उस बीजमें आमके पत्तोंका, बौरका, फलके रंगका, स्वादका जैसा संस्कार था, वह सब प्रकट होता है। एक बीजसे वृक्ष बना, उस वृक्षमें जो फल आयेंगे, उन फलोंसे जो वृक्ष बनेंगे, उन वृक्षोंमें जो फल होंगे—इस प्रकार उस बीजकी जो परम्परा चलेगी, उसकी कोई गणना नहीं कर सकता।

इस प्रकार एक बीजमें कितने शरीरोंके, कितने राग-द्वेषके, कितने कर्मोंके, कितनी योनियोंमें जन्मके संस्कार भरे पड़े हैं, इसकी कोई गिनती नहीं है।

इस संस्कारकी अनन्त परम्पराको नष्ट कर देनेका उपाय है बीजको जला देना। आमके बीजको जला दिया तो अब आगे उससे कोई वृक्ष उत्पन्न नहीं होगा। जला देनेसे क्या नाश हुआ, यह भी विचार कर लेने योग्य है। बीजमें जो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश था, उसमें-से किसीका कोई कण नष्ट नहीं हुआ। पञ्चमहाभूत जलते नहीं। बीजके अधिष्ठान रूपमें स्थित जो आत्मतत्त्व है, वह जला नहीं सकता। तब जला क्या? केवल बीजमें निहित संस्कार ही जले।

जन्म-मृत्यु, संयोग-वियोग, सुख-दुःख, सन्तानपरम्परा आदिका मूल संस्कार हैं और वह अज्ञानजन्य है। चेतनको जड़ और जड़-को चेतन मानकर हमने संस्कारसे सम्बन्ध जोड़ लिया है। संस्कारसे वासना उठती है, वासनासे कर्म होता है, कर्मसे फिर संस्कार बनते हैं। इस प्रकार संस्कारसे जन्म और जन्ममें फिर वासना—वासनासे कर्मका चक्र चलता रहता है।

जब विवेक करने लगे और अपनेको दृश्यसे अलग किया, तो दृश्यसे वैराग्य हुआ। अब जो इस दृश्यके मूलमें है, वह 'ऊर्ध्वमूल' परमात्मा होना चाहिए। इस परमात्माको जाने बिना कोई जन्म-मृत्यु के इस अनादि चक्रसे छूट नहीं सकता।

'कर्मानुबन्धीनि' ये जटाएँ कैसी हैं? ये राग-द्वेषके वशवर्ती होकर जो कार्य किये हैं, उनकी हैं। यहाँ प्रश्न उठा कि तब राग-द्वेषके वशवर्ती होकर कर्म करनेवाले सभी देहधारियोंके लिए हैं? इसका उत्तर देते हैं—'मनुष्यलोके' केवल मनुष्यको ही यह कर्म-बन्धन है।

मनुष्य ही कर्मयोनिका प्राणी है। मनुष्य योनिमें जो कर्म किये जाते हैं, उनका ही फल भोगनेको वह जीव अन्य योनियोंमें जाता है। अपने कर्मोंसे मनुष्य, देवता, गन्धर्व, सिद्ध बन सकता है। अपने कर्मोंसे पशु-पक्षी, साँप-बिच्छू, कीट-पतंग बन सकता है। और अपने ज्ञानसे वह परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है।

कर्म करनेमें मनुष्य ही स्वतन्त्र है। मनुष्यमें ही नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा है। मनुष्य ही नवीन-नवीन आविष्कार कर सकता है। अतः मनुष्यके कर्म ही संस्कार उत्पन्न करते हैं। अन्य प्राणियोंके कर्म वासनाजन्य होते हैं; किन्तु नवीन संस्कार उत्पन्न नहीं करते।

धार्मिक कहते हैं कि कर्मोंमें सुधार करो, शास्त्रविहित उत्तम कर्म करो और निषिद्धका त्याग कर दो। इस प्रकार उत्तम संस्कार ही रह जायेंगे। इससे अन्तःकरण शुद्ध होगा। यह कर्ममें सुधार

करनेका मार्ग है। लेकिन कितना भी सुधार कर्ममें करो वासना फूट पड़ती है और संयम टिकता नहीं।

भक्तिका मार्ग वासनामें सुधारका मार्ग है। अपने चिन्तनको पवित्र करो। भगवान्‌का चिन्तन करो। इस प्रकार वासनाको पवित्र बनाओ तो अन्तःकरण शुद्ध होकर कर्मबन्धन छूट जायगा। लेकिन वासना सर्वथा शुद्ध हो नहीं पाती। उसमें-से अवाञ्छित संस्कार प्रकट तो जाता है।

योग वासना-निरोधका मार्ग है। मनोराज्यका भी निरोध करके मनको निर्वासन बनाओ। लेकिन इस निरोधसे भी वासना जाग उठती है।

इनमें-से कोई भी कर्मकी आत्यन्तिक निवृत्तिका साधन नहीं है। सन्त-कबीरदासने कहा है—

'दास कबीर जतनसे ओढ़ी ज्यों-की-त्यों धर दीनीं चदरिया।'

इस 'चदरिया' को ज्यों-की-त्यों धर देना पड़ेगा। कर्म, संस्कार, वासनाको ज्यों-का-त्यों छोड़ देना होगा। इन सबको यथावत् रहने देकर ही इनके रूपमें परमात्मा है, यह पहिचान लेना पड़ेगा।

'मनुष्यलोके' यह पहिचाननेकी शक्ति भी मनुष्यमें ही है। मनुष्य ही धर्म-अधर्मको समझ सकता है। मनुष्यका ही संस्कार होता है।

'मानुषेषु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्ततः'

पक्षियों या पशुओंका न यज्ञोपवीत होता है, न विवाह। उनमें धर्म-अधर्मका ज्ञान नहीं है। अतएव कर्मका 'धर्म-अधर्म' रूप संस्कार उनके अन्तःकरणमें नहीं बना करता। ये 'कर्मानुबन्धीनि' जटाएँ जो चारों ओर फैली हैं, मनुष्यमें ही है, यह 'मनुष्यलोके' कहकर बतलाया गया।



● *संगति*

अश्वत्थ वृक्षका यह स्वरूप तथा विस्तार अनिर्वचनीय है। इसको काटनेका उपाय असंगता है, यह निर्णय देनेके लिए कहा जा रहा है।

३

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल—
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

'लोकव्यवहारमें इस अश्वत्थ संसारका जैसा रूप, आदि, अन्त और स्थिति—यह सब देखनेमें आते हैं, विचारदृष्टिसे इनकी वैसी उपलब्धि नहीं होती अर्थात् व्यावहारिक रूपसे विचारसिद्धरूप विलक्षण है, इसलिए यह अनिर्वंनीय है।

इस संसार अश्वत्थकी मूलभूत वासनारूप जड़ें अत्यन्त लम्बी और दृढ़ हैं अर्थात् ये स्वयं नष्ट नहीं हो सकतीं। इसलिए असङ्ग (वैराग्य) रूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा इनका छेदन करके परम पदका अनुसन्धान करना चाहिए।'

केवल ऐन्द्रियक अनुभव अथवा वासनावासित ज्ञानसे इस अश्वत्थके वास्तविक तत्त्वका अनुभव होना शक्य नहीं है। जब

धारणा-ध्यानपरिशुद्ध बुद्धिसे सूक्ष्म विचार किया जाता है, तब पता चलता है कि यह संसार कैसे अश्वत्थ रूप है, इसे अश्वत्थ होनेपर भी अव्यय क्यों कहा गया है। यह परिवर्तनशील होनेपर भी अविनाशी ब्रह्मसे पृथक् सत्य नहीं है और अविनाशी ब्रह्मसे तत्त्वतः एक होनेपर भी परिवर्तनशील रूपमें दीख रहा है। यह दीखता हुआ भी ठीक-ठीक नहीं दीखता। ठीक-ठीक न दीखनेके कारण ही इसमें मोह, राग-द्वेष आदिकी प्राप्ति होती है, दृष्टि केवल कार्यमें आबद्ध हो जाती है, कारण पर नहीं जाती। जब कारणका ही दर्शन नहीं होता, तब 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' का अनुभव तो होगा ही कहाँसे? इसलिए कार्यके प्रति वैराग्य— असङ्गता इस पदकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

'इह' का अर्थ 'संसारे' इस संसारमें संसारी लोगोंके द्वारा इस अश्वत्थ वृक्षका जो रूप बताया गया, वह 'न उपलभ्यते' नहीं जाना जाता। संसारमें लगे लोगोंको न स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि लोकोंका पता है, न कर्मसे होनेवाली गतियोंका पता है और न वासनाका ही।

'नान्तो न चादिः' इसका अन्त कहाँ होगा? यह कहाँसे प्रारम्भ हुआ? वस्तुतः यह अज्ञानसे प्रारम्भ हुआ है और ज्ञानमें इसका अन्त है।

'संप्रतिष्ठा' घड़ेमें पानी भरा है तो पानीकी संप्रतिष्ठा घड़ेमें है और घड़ेकी मिट्टीमें। इसी प्रकार इस संसारकी संप्रतिष्ठा कहाँ है? अज्ञानमें। न होने पर भी अज्ञानके कारण ही यह नानात्व भासित हो रहा है।

'असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।'

असत्को छोड़कर सत्में जाना है, अन्धकारको छोड़कर प्रकाशमें जाना है, मृत्युको छोड़कर अमृतत्वमें प्रवेश करना है तो 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' आसक्तिके प्रसारको त्यागो। देहमें ममता है, देहके सम्बन्धियोंमें ममता है, पदार्थोंमें ममता है—यह सब संग है, इसे त्याग दो।

'गुरूपासनया शितेण विद्याकुठारेण दृढेन छित्त्वा' यह वर्णन भी पाया जाता है। इस सम्बन्धमें गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

'तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई॥'

श्रीहरिकी कृपा तो ऐसा कोई नहीं है, जिसपर न हो। सब जीवोंपर सर्वदा भगवान्‌की असीम कृपा है, किन्तु जो विषयी प्राणी हैं, उनपर भगवत्कृपाका प्रभाव नहीं होता। इसे यों समझ लो कि जो बच्चा खिलौनोंसे खेलनेमें लगा है, उसीमें प्रसन्न है, माता उसके खेलमें बाधा नहीं देती। उसे गोदमें नहीं उठाती। वह सोच लेती है कि यह इनमें प्रसन्न है तो खेलने दो। इसी प्रकार जो जीव संसारके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सम्मानको पानेमें लगा है, उनकी प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाये है, उसके ऊपर भगवत्कृपाका प्रभाव नहीं होता। वह तो भोगकी प्राप्तिमें ही भगवत्कृपा मानता है।

गुरुकी कृपा भी अपने सभी शिष्योंपर रहती है। वे सेवा-परायण न हों, गुणहीन हों, अपराधी हों, तब भी कृपा

अखण्ड बनी रहती है; किन्तु अभिमानीपर उसका प्रभाव नहीं होता। जैसे दिनमें सर्वत्र सूर्य प्रकाश देता है; किन्तु जो अपनेको घरमें बन्द करले, उसे वह प्रकाश नहीं मिलता, इसी प्रकार अभिमानीका अहंकार उसे गुरुकृपासे दूर कर देता है।

इस श्लोकका एक दूसरे प्रकारसे भी अर्थ किया जाता है—

'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' इह-विचारकाले, इहका अर्थ विचारके—विवेकके समय, अस्य इस संसाररूपी अश्वत्थ वृक्षका 'तथा रूपं न उपलभ्यते' वह रूप जो साधारण समयमें, व्यवहार कालमें दिखलाई पड़ता है, प्राप्त नहीं होता।

रागीके लिए जो अत्यन्त प्रिय, सुन्दर और आकर्षक है, वैराग्यवान्के लिए वही घृणित, त्याज्य है। रागी जिसे अधरामृत कहता है, विवेकीकी वाणी उसे थूक कहती है। वह 'मुखं लालाक्लिन्नं' कहकर उधरसे मुख फेर लेता है। जो देह रागीको सुन्दर, सुकोमल, आनन्ददायक जान पड़ता है, विवेकी उसी देहको मल-मूत्र, मांस-मेद, रक्त-अस्थि आदिकी, चमड़ेमें बँधी पुड़िया देखता है।

विवेकके समय संसारका वह रूप नहीं प्राप्त होता जो व्यवहारमें दीख रहा है। जो बच्चा था, वह युवा हुआ और फिर बूढ़ा हो गया। जो कल था, वह आज नहीं रहा। निरन्तर यह जगत् बदल रहा है। दीखता कुछ है और तत्त्वतः कुछ और ही है।

'नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' इसका अन्त कहाँ होगा? इसका आरम्भ कहाँ है? इसकी कोई संप्रतिष्ठा है? यह कुछ भी

नहीं है। वन्ध्यापुत्र किससे उत्पन्न हुआ ? मरुस्थलकी किरणोंमें दीखनेवाला जल क्या मरुस्थलमें लय होगा ? यह संसार तो बिना हुए ही भास रहा है। यह अध्यस्त है।

'सुविरूढमूलं' ऐसा होनेपर भी इसकी जड़ें बहुत दृढ़ हो गयी हैं। अपनी कल्पना ही ध्यान करते-करते सच्ची हो गयी है। यह कल्पवृक्षका भूत हो गया है।

कोई यात्री गर्मीकी ऋतुमें अचानक कल्पवृक्षके नीचे पहुँच गया। वह वृक्षको पहिचानता नहीं था। उसके मनमें आया कि शीतल वायु चले तो अच्छा हो। तुरन्त वायु चलने लगा। फिर उसने सोचा कि पासमें सरोवर होता तो स्नान करते। सरोवर सामने दिखायी पड़ा। स्नान करके उसने सोचा कि यदि इस समय उत्तम भोजन मिल जाय तो बड़ा आनन्द हो। भोजनका थाल सामने आगया। यात्री भोजन देखकर चौंका और सोचने लगा कि यहाँ कोई भूत तो नहीं है ? भूत भी सामने आ खड़ा हुआ।

इसी प्रकार यह संसाररूपी भूत हमारी वासनासे बना है। लेकिन यह वासना-संस्कार बहुत दृढ़मूल हो गया है। हमारी मान्यता, हमारी वासना, हमारी कर्म-समीक्षा अत्यन्त दृढ़ हो चुकी है।

'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा' इस दृश्यका जो द्रष्टा है, जो इन्द्रियोंको देखता है, मनसे इन्द्रियोंको देखता है, बुद्धिसे मनको देखता है और बुद्धिका भी जो साक्षी है, उसका विवेक ही असंग शस्त्र है। वह आत्मा न बुद्धि है, न मन है, न इन्द्रिय है, न प्राण

है और न विषय है। इन सबका वह साक्षी है। यह विवेक जब होता है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' तब द्रष्टा अपने साक्षी स्वरूपमें स्थित हो जाता है। यह विवेक ही असंग शस्त्र है।

जीव ईश्वरका अंश है, पुत्र है, सखा है। ईश्वर तो सृष्टि–प्रलयके किसी कर्ममें आसक्त नहीं होता। तब उसके अंश, पुत्र या मित्र होकर हम दृश्यमें क्यों आसक्त हों। इस देहादिमें ममत्व मत करो।

अंसगता ही शस्त्र है। यह संसार वासनामूलक है और वासना राग-द्वेषमूलक ही होती हैं। राग-द्वेषके बिना कोई वासना नहीं होती। अतः वासनाके त्यागका उपाय है राग-द्वेषका त्याग। इस संसारवृक्षके उन्मूलनके लिए राग-द्वेषकी निवृत्ति आवश्यक है। राग-द्वेष निवृत्त होगा, तब ममतास्पद संसार कटेगा।

श्री वल्लभाचार्यने जगत् और संसारको दो माना है। ये सूर्य-चन्द्र, समुद्र-पृथिवी, ये पशु-पक्षी, नदी-सरोवर तथा सब प्राणी–पदार्थ जगत् है। सांख्य इसे प्रकृतिकी सृष्टि कहता है और भक्त इसे भगवान्‌की लीला कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसे भगवान्‌की माया कहा है—

'गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई॥'

यह प्रकृतिकी रचना या भगवान्‌की लीला आनन्दके लिए, खेलके लिए है। इससे किसीको दुःख या बन्धन नहीं होता। इसका नाश न अभीष्ट है और न किसीके 'असंग शस्त्र' से इसका नाश होता है।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि इस जगत्‌के पदार्थोंमें जो 'मैं—मेरा' भाव है, यही संसार है। यही जीवकी सृष्टि है। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसे जीवकी माया बताया है—

'मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।'

यह संसार ही बन्धनका हेतु है। ईश्वर-सृष्टि दुःख देनेवाली नहीं है, दुःख अविवेकके कारण उसमें 'मैं—मेरा' कर लेनेसे होता है। यह ममता—अहंता जीवकी वासनासे है। अहंता—ममताके कारण ही देहसे, विषयोंसे, देहके सम्बन्धियोंसे संग है। इस संगको—ममताको—राग-द्वेषको काटना होगा।



राग-द्वेषका बन्धन कट गया, आसक्ति दूर हो गयी, विवेकके द्वारा अपनेको साक्षीरूपमें जान लिया तो क्या दुःख मिट जायगा ? वैराग्यसे ही जन्म-मरणरूप संसारचक्र समाप्त हो जायगा ? नहीं। अभी संसारका अज्ञानरूप बीज मिटा नहीं। अतः उस अज्ञान-अविद्याकी निवृत्तिके लिए ईश्वरका ज्ञान आवश्यक है। 'असंग-शस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा' के द्वारा उस ज्ञानका अधिकारी बना जाता है। राग-द्वेषकी निवृत्ति होनेपर, अपनेको विवेकके द्वारा साक्षी समझ लेनेपर साधन-चतुष्टय एवं षट्सम्पत्तिसम्पन्न अधिकारी हो गया भगवत्स्वरूपके ज्ञानका।

४

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(दृढ़ असंग शस्त्रके द्वारा संसारवृक्षकी वासनारूप जटाओंका विच्छेद करके) गुरुशरणागतिपूर्वक अपने उस लक्ष्यपूत परमपदका अनुसन्धान करना चाहिए, जहाँ पहुँचनेके बाद संसारमें फिर लौटना नहीं पड़ता। जिज्ञासुको अपने मनमें यह दृढ़ भाव धारण करना चाहिए कि मैं उसी जगत्कारण अन्तर्यामी पुरुषकी शरण

ग्रहण करता हूँ जिससे यह अनादिकालीन, सृष्टि-प्रवाह विस्तारको प्राप्त हुआ है।

'ततः' इस पदका अर्थ अनेक आचार्योंने अनेक प्रकारसे किया है। एक आचार्यका मत है कि 'ततः'का अर्थ है कि असंग शस्त्रसे अश्वत्थ वृक्षकी जड़ें काटनेके पश्चात् वैराग्य साथ लेकर, वैराग्यका त्याग करके नहीं। परमात्माका अन्वेषण करते समय वैराग्य साथ रहना चाहिए।

असंगशस्त्रसे आसक्तिको काटकर 'ततः' गुरुकी शरणमें जाकर, यह अर्थ एक आचार्यका है; क्योंकि यदि परमात्मा किसीकी इन्द्रियका विषय कभी हुआ होता या हो सकता तो उसे किसी साधनसे स्वयं पाया जा सकता था। लेकिन इन्द्रियाँ तो परस्पर भी एक दूसरेके विषयका ज्ञान नहीं कर पातीं। कर्ण देख नहीं सकते और नेत्र सुन नहीं सकते। एक इन्द्रिय एक पदार्थको भी ठीक नहीं जान पाती। नेत्र पुष्पका केवल रूप जानते हैं, नासिका केवल गन्ध और त्वचा केवल स्पर्श। यही नहीं, अपने विषयको भी ये इन्द्रियाँ पूरा-पूरा प्रकाशित नहीं करती हैं। अत्यन्त मन्द और अत्युच्च शब्द कान सुन नहीं पाते। वहुत हल्का और वहुत तेज प्रकाश नेत्रसे नहीं दीखता। इन्द्रियाँ तो अपने विषयको भी अपूर्ण रूपसे एक सीमित घेरेमें ही प्रकाशित करती हैं। परमात्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष या वुद्धिसे प्रत्यक्ष नहीं होता। अनुमान उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी परमात्माका साक्षात्कार नहीं करा पाते। अतः एकमात्र शब्द-श्रुति ही प्रमाण है। गुरुकी शरणमें जाकर उसका श्रवण करना चाहिए और तब उस श्रुत तत्त्वका मनन,

निदिध्यासन करना बनेगा। ईश्वरसे लेकर चला आता जो गुरु सम्प्रदाय है, उसीके माध्यमसे परमात्मतत्त्वका श्रवण सम्भव है। श्रुति कहती है—

'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'

'ततः पदं' का अर्थ श्रीधरस्वामी करते हैं 'तस्य ईश्वरस्य' उस ईश्वरके पद—स्वरूपको ढूँढ़ना चाहिए।

'ततः पदं' भगवान् शंकराचार्य कहते हैं 'तदनन्तरं यत् पदं तत्' इस नाम-रूपात्मक संसाररूपी अश्वत्थ वृक्षके पीछे, इसके अधिष्ठान रूपमें जो पद है, वह। यह हमारा ब्रह्माण्ड जिस अश्वत्थ वृक्षकी एक शाखा है, जिसमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डरूपी अनन्त शाखाएँ हैं, उस वृक्षमें अस्ति, भाति, प्रिय रूपसे जो विद्यमान है, वह। जैसे कंगनके पीछे स्वर्ण है, घड़ेके रूपके पीछे मिट्टी है, वैसे ही जो इस नाम-रूपात्मक प्रपञ्चके पीछे इसका अधिष्ठान है, वह। इन आकारोंमें जो निराकार छिपा है, इन गुणविग्रहोंमें जो निर्गुण है, इस रूप राशिमें जो अरूप है, इन सविशेषोंमें जो निर्विशेष बैठा है, 'तत् परिमार्गितव्यं' उसे ढूँढ़ना चाहिए।

इस श्लोकमें तीन बातें बतायी गयी हैं—१—'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः' यह प्राप्तिका फल। २—'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' यह प्राप्तिका साधन। ३—'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' यह जिसे पाना है, उसका आदि कारणत्व।

'असंगशस्त्रेण' के द्वारा विवेक-वैराग्य सम्पादन करनेकी बात बताकर अधिकारीका निरूपण कर चुके हैं। अब उस

अधिकारीके लिए इस अश्वत्थवृक्षमें छिपे परमात्माको ढूँढ़नेका निर्देश है।

पहिले ऐसे चित्र मैंने देखे हैं, जिनमें कुछ रेखाएँ या जंगल दना होता था। लिखा होता था कि इसमें हिरन छिपा है, उसे ढूँढ़ो। बिना किसीके बतलाये केवल रेखाएँ ही दीखती थीं और बतला देनेपर हिरन स्पष्ट दीखने लगता था। इसी प्रकार इस संसाररूपी अश्वत्थवृक्षमें ही परमात्मा छिपा है। यहीं उसे ढूँढ़ना है और ढूँढ़नेके लिए गुरुकी शरण लेनी है।

जो ढूँढ़ने चलता है, उसके मार्गमें ये मायादेवी बैठी हैं श्रृंगार किये, इनके हाव-भाव बड़े विकट हैं। सिद्धिका, यशका, धनका लोभ आदि इनके फन्दे हैं। जो इनसे बचे वह ढूँढनेमें लगे। जो इनके जालमें फँसा और ढूँढ़ना छोड़ बैठा, वह हार गया।

ढूँढ़नेके मार्ग अनेक हैं। प्रलयके समय सब जीव छिपे थे। परमात्माने उनमें-से एक-एकको ढूँढ़ लिया और सृष्टिके, इस खेलके मैदानमें लाकर खड़ा कर दिया। अब परमात्मा छिप गया और जीवोंको उसे ढूँढ़ना है। अब ढूँढ़नेवाले अपने-अपने ढंगसे उसे ढूँढ़ते हैं। ये सब भगवान्‌को पानेके साधन, केवल ढूँढ़नेके ढंग हैं।

योगी कहते हैं—'हमने देख लिया कि तुम बाहर नहीं हो। अतः अब नेत्र बन्द करके धारणा, ध्यान, समाधिके द्वारा तुम्हें भीतर ढूँढ़ेंगे।'

भक्त कहते हैं—'हम हार गये। हमारे वशकी बात नहीं। अब कृपा करके तुम स्वयं ही आ जाओ।' वे रोते हैं, व्याकुल होते हैं और रोते-रोते जब गिर पड़ते हैं; तब परमात्मा आकर उन्हें उठा

लेता है। वह कहता है—'भैया, इतने दुःखी क्यों होते हो? रोते क्यों हो? मैं तुमसे दूर कब हुआ? मैं तो सदा ही तुम्हारे साथ हूँ। यह तो केवल खेल चल रहा था।'

वेदान्ती उस भोले भगवान्‌को कहते हैं—'हमने देख लिया! देख लिया! 'तत्त्वमसि' तुम्हीं यह सब वृक्ष बने छिपे हो।' भगवान् भी समझता है कि जब देख ही लिये गये तो अब छिपनेसे क्या लाभ? वह अपनेको उनपर प्रकट कर देता है।

'पदं' पद्यते इति पदं सम्पूर्ण साधनोंसे जिसकी प्राप्ति हो, उसे पद कहते हैं। जिसकी प्राप्तिका लक्ष्य बनाकर चले हो, वह पद है। जबतक वह प्राप्त नहीं होता, तबतक जन्म-मृत्युके चक्रमें, स्वर्ग-नरक, पशु-पक्षी, देवता-दानव आदि योनियोंमें भटकते रहना पड़ेगा।

'परिमार्गिव्यं' उस पदको ढूँढना चाहिए। श्रुति कहती है—'इस चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः' उसे जान नहीं लिया तो महान् विनाश हुआ।

'जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मंद मति, आतमहन गति जाइ॥'

उसे आत्महत्यारेकी गति प्राप्त होती है, जो मनुष्य जन्म पाकर आत्मतत्त्वको पहिचान नहीं लेता। अतः 'परिमार्गितव्यं' यह ब्रह्मसूत्रके पहिले सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का अर्थ प्रकट करता है। उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए, उस परमात्माको ढूँढना चाहिए। उसे प्राप्त करनेपर क्या होगा—'न निवर्तन्ति भूयः' फिर

संसारमें लौटना नहीं पड़ता। यह ब्रह्मसूत्रके अन्तिम सूत्र 'अनावृत्तिः शब्दात्' का तात्पर्य बता दिया।

कोई कहींसे क्यों लौटता है? जिस इच्छासे गया था, वह इच्छा पूरी नहीं हुई। वहाँ स्वागत-सत्कार नहीं मिला। वहाँ रहने योग्य सुविधा नहीं थी। किसीने वहाँसे निकाल दिया। दूसरे स्थानपर अपने प्रिय, स्वजन या आवश्यक कार्य होनेसे लौटना पड़ा। यही कारण कहींसे लौट आनेके होते हैं। लेकिन परमात्मा आनन्द-स्वरूप है। वहाँ सुख-सुविधाका पार नहीं है। वह सबका आत्मा ही है; अतः स्वागत-सत्कार तथा अपनत्वका अभाव नहीं। वह निकाल सकता नहीं। वही अपना घर है। वही अपना है। यहाँ संसारमें तो कोई अपना है नहीं। अपना कोई कार्य या स्वार्थ नहीं। यहाँके तो सब सम्बन्ध कल्पित हैं। यहाँ हम इस शरीररूपी गन्दी नालियोंवाले घरमें हैं। अतः परमात्माके यहाँ जाकर लौटनेका कोई कारण विद्यमान नहीं है।

प्रेमी लोग यों भी कहते हैं कि परमात्मामें बहुत स्वच्छता (सत्ता), बहुत प्रकाश (चिन्मयता) और बहुत आनन्द है, यह जानकर तो वहाँ पहुँचे; किन्तु वहाँ तो एकदम सुनसान है। न वहाँ कोई व्यक्तित्व है, न कर्म है, न भोग है। वहाँ न कोई गुण है, न विशेषता है। वह निर्गुण, निर्विशेष है। लेकिन जो वहाँ पहुँच जाता है, उसे परमात्मा लौटने नहीं देता। यह लौटकर मेरी बदनामी करेगा, इस कारण उसे सदाके लिए वहीं रोक लेता है।

लौटना वहाँ होता है जहाँ कर्म हो, वासना हो, विषय हों और उनका भोग हो। परमात्मामें तो यह कुछ है नहीं। वहाँ तो

अखण्ड शान्ति है। अतः वहाँ जाकर कुछ पाना, कुछ करना, कुछ जानना शेष नहीं रहा। जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा हो गया।

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' यह उसे ढूँढ़नेका उपाय है। हम स्वयं उसे ढूँढ़ नहीं सकते। अतः उसीकी शरण लेकर उसीसे प्रार्थना करते हैं कि आप ही कृपा करके प्रकट हो जाओ।

जिनमें सांसारिक भोगोंकी कामना है, जो सिद्धि चाहते हैं, धन चाहते हैं, पुत्र चाहते हैं, यश चाहते हैं, उनका चित्त उनकी कामनासे व्याकुल है। कामनाने उनका ज्ञान नष्ट कर दिया है। वे मूर्ख हैं। अतः—

'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।'

कोई इन्द्रकी शरण लेता है, कोई वरुणकी। कोई भूत पूजता है तो कोई यक्षिणी। लेकिन भगवान् कहते हैं—

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'

जो मेरे ही शरणमें आते हैं, वे इस मायाको पार करते हैं।

मायाका अर्थ जादू। अब समझो कि कोई जादूगर अपने जादूसे बाघ बनकर तुमपर झपटा। तुम यदि उस जादूको दूर करनेका कोई मन्त्र, कोई उपाय जानते हो तब तो ठीक है और नहीं जानते हो तो हाथ जोड़कर उस जादूगरसे ही प्रार्थना करो कि वह अपना जादू समेट ले। तुम उससे प्रार्थना करोगे तो वह प्रकट हो जायगा और कहेगा कि 'डरो मत! यह तो एक खेल था।'

मछली मारनेवाले मछुए जाल डालते हैं समुद्र, नदी या सरोवरमें। जो मछलियाँ मछुएसे दूर होती हैं, वे जालमें फँस

जाती हैं; किन्तु जो मछुएके पैरोंके पास रहती हैं, वे जालसे बच जाती हैं। यह जो मायाका महाजाल है, उससे बचनेके लिए इसके मछुएके ही चरणोंकी शरण लेनी है।

'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वे वैदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवं आत्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥'

श्रुति कहती है कि जिसने पहिले ब्रह्माको प्रकट किया, और उन्हें जिसने वेदोंका ज्ञान प्रदान किया उस आत्मबुद्धिको प्रकाशित करनेवाले परमात्मदेवकी शरण हम मुक्तिकी इच्छासे लेते हैं।

'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' उस आदि पुरुषकी शरण लो। भगवान्‌ने कहा है—'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।'

'तमेव' अश्वत्थके मूलरूपमें जिसका वर्णन है, 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः' जिसे प्राप्त करके फिर लौटना नहीं पड़ता, उसी 'आद्यं पुरुषं'की शरण लेना है। 'आद्यं'का तात्पर्य यह कि वह सर्वकारण कारण है और 'पुरुषं' कहनेका अर्थ है कि वह परिपूर्ण है।

कुछ आचार्योंने 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येत' ऐसा पाठ माना है; क्योंकि यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं बोल रहे हैं। भगवान् 'प्रपद्ये' शरणमें जाता हूँ, यह बात किसके लिए कह रहे हैं? वह आदि पुरुष स्वयं नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

गीतामें उन्होंने कहा है 'मामेव ये प्रपद्यन्ते', 'मामेकं शरणं व्रज' आदि। अतः यहाँ कुछ आचार्योंको 'प्रपद्येत' पाठ ठीक जान पड़ा। कुछ लोग कहते हैं कि भक्तवत्सल करुणावरुणालय प्रभु यहाँ अर्जुनको शिक्षा देनेके लिए अर्जुनकी ओरसे 'प्रपद्ये' बोल रहे हैं।

श्रीरामानुजाचार्यजीने 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।' इसमें 'प्रपद्येयतः' को एक साथ रखकर 'प्रपद्य+इयतः' यह सन्धि-विच्छेद किया है। 'इयतः' का अर्थ 'साधनादेः' जिस आदि पुरुषसे साधनादिकी प्राचीन प्रवृत्ति—साधन+सम्प्रदाय विस्तृत हुए हैं, उसकी शरण लेकर, यह अर्थ किया है।



● *संगति*

भगवान्‌की, उस आदि पुरुषकी शरण लेनेसे क्या होगा ? वे कृपा करेंगे। उनकी कृपाका क्या स्वरूप है ? कृपा साकार है या निराकार ? किसी सेठके घरमें धन आता है तो वह कहता है कि भगवान्‌की बड़ी कृपा है। वह कृपाको धनके रूपमें देखता है। परमार्थके साधकके पास भगवत्कृपा वैराग्यके रूपमें, विवेकके रूपमें, त्यागके रूपमें, गुरुके रूपमें, विचारके रूपमें, साधनके रूपमें आती है। जब साधन-भजनमें मन लगे तो समझो कि भगवान्‌की कृपा है। उस कृपाका स्वरूप ही अगले श्लोकमें बतलाया गया है।

अपने बलपर संसारसे वैराग्य हो तो पतनका भय रहता है। त्याग किया संसारका, वैराग्य आया, किन्तु सहारा कोई नहीं है, सहारेके लिए ईश्वर–शरणागतिकी आवश्यकता होती है। गृहस्थके घरमें स्त्री-बच्चे, भाई-बन्धु सब होते हैं; बहुत धन भी हो सकता है; किन्तु उनको भी बहुधा औरोंकी सहायता अपेक्षित होती है। साधक तो अकेला है। संसारके सम्बन्ध उसने त्याग दिये। अब उसे परमात्माकी सहायता अपेक्षित है। अतः उसकी शरण लो।

'स्थानाशनाभ्यां विहरेत्' यात्रीके लिए आज्ञा है कि अपना आसन तथा कुछ भोजन साथ लेकर यात्रा करे। होटलोंमें, दूसरोंके यहाँ जो बिस्तर मिलेगा, वह पता नहीं किन-किनका उपयोग किया हुआ होगा। उसमें उनके भोगके संस्कार और रोगके कीटाणु होंगे। अतः आसन अपना साथ और पता नहीं कहीं भोजन मिले या न

मिले, इससे कुछ भोजन साथ रखना चाहिए। परमार्थकी यात्रामें भी इसी प्रकार अपने पास कुछ साधन-सम्बल चाहिए।

त्याग कर दिया और भगवान्‌को हाथ जोड़ लिया, रो गये तो क्या इतना पर्याप्त है ? इससे पहुँच गये ? नहीं, त्याग करना ही पर्याप्त नहीं है और रोना भी पर्याप्त नहीं है। भगवान् शंकराचार्य साधनचतुष्टयको आवश्यक मानते हैं। विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति [शम-दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान] तथा मुमुक्षा आवश्यक है। कोई आचार्य सेवा, कोई धर्म, कोई संकीर्तन और कोई नियमनिष्ठाको आवश्यक मानते हैं। श्रीरामानुजाचार्यने विवेक [भोजनके सम्बन्धका शुद्धाशुद्ध विचार], विमोक [अनाचरणीयका त्याग], क्रिया (पूजा), कल्याण, अभ्यास, अनवसाद और अनुद्धर्ष ये सात आवश्यक साधन मानते हैं।

कोई साथ रहे; किन्तु आज्ञा न माने तो क्या वह शरणागत है ? शरणागतके भी कुछ नियम होते हैं। शरणागतके लिए भी कुछ मर्यादा होती है। त्याग, वैराग्य और रुदन ही पर्याप्त नहीं है। जीवन में एकांगी विश्वाससे पूर्णता नहीं आती। साधन होने चाहिए जीवनमें।

साधनका प्रारम्भ सब कर सकते हैं। ढूँढ़ना सब प्रारम्भ कर सकते हैं। लेकिन प्रारम्भ करना ही तो पूर्णत्व नहीं है। कर्म तो मोटर है—वह सवारी है। ले जानेवाला ड्राइवर संकल्प है। जो चाहोगे, सो पाओगे। इसलिए संकल्प शुद्ध होना चाहिए। उस पदको पानेका संकल्प करो पहिले और फिर उसके साधन अपनाओ। रोनेवाले तो ऐसे भी देखे हैं कि थोड़ी देर रो लिया और फिर, विषयानन्दमें निमग्न, अतः भगवान् साधन बतला रहे हैं।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै—
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।

जो मान-मोहसे रहित हैं, संग-दोषको जीत चुके हैं, सदा अध्यात्ममें स्थित हैं, कामनाओंसे छूट चुके हैं—सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित हैं, वे अमूढ़ पुरुष उस अव्यय पदका अनुभव करते हैं ।

'निर्मानमोहा' जो मान और मोहके दलदलसे निकल गये हैं अथवा मान और मोह जिन्हें छोड़कर भाग गये हैं, उनको वह अव्यय पद प्राप्त होता है ।

मानका अर्थ है मापना । वस्तुका मान मन, सेर, छटाँक है, कालका मान मिनट, घंटा, दिन आदि है और देशका मान—इंच, गज, मील आदि है । जिसमें यह देश, काल, वस्तुकी कोई माप हो, वह मान । जो वस्तु मापमें आती हो उसे 'मैं' कहना मान है । यह शरीर साढ़े तीन हाथका है—यह इसका देशगत मान है, इसकी जो आयु है—वह काल गत मान है और इसका भार (तौल) इसका वस्तुगत मान है । इस शरीरको 'मैं' समझना मान है । पूजा, प्रतिष्ठा, यश, सत्कार आदि सब मानके रूप हैं । मानका अर्थ गर्व या अहंता । अमानपर दृष्टि न होनेसे मान आया ।

शीशा देखते समय प्रत्येक व्यक्ति अपनेमें दूसरोंसे कोई न कोई अधिक अच्छाई देख लेता है। रंग काला हुआ तो वह नेत्र अच्छे देखता है। नेत्र छोटे हुए तो केश सुन्दर देखता है। यह जो दर्पण है, उसका नाम ही इसलिए दर्पण है कि उसे देखकर दर्प होता है।

मान—अभिमान सदा परिच्छिन्नका होता है। छिन्नका अर्थ है कटा हुआ। परिच्छिन्नका अर्थ चारों ओरसे कटा हुआ। काल, देश और वस्तुकी कैंचियाँ उसे काट रही हैं। इस समय है तो दूसरे समयमें नहीं था, यह कालकी परिच्छिन्नता है। वम्बईमें है तो इसी समय पूनामें नहीं है, यह देशकी परिच्छिन्नता है। देश, काल वस्तुकी कैंचीसे जो नहीं कटा, वह ईश्वर है। वह अपरिच्छिन्न है।

परिच्छिन्नको 'मैं' समझना मान है और परिच्छिन्नको 'मेरा' समझना मोह है। अनात्मामें आत्मबुद्धि मान है और यह सदा बना रहे, ऐसा आग्रह मोह है। हम इसके बिना जी नहीं सकते, इसके बिना रह नहीं सकते, यह सब धारणा मोहकी लीला है।

'पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः
कान्तेति धीशोंणितमांसपिण्डे।
आत्मेति धीर्यत्कुणपे त्रिधातुके
जयत्यसौ काचन मोहलीला॥'

पत्थरके टुकड़ोंको रत्न समझना, खून और मांसके लोथड़ेको प्राणप्रिय या प्राणप्रिया समझना तथा कफ, वात, पित्त—इन तीन

धातुओंसे बने शरीरको आत्मा समझना, यह मोहका कोई विलक्षण विलास है, जिसकी सबपर जीत हो रही है।

मान पूर्णताका विरोधी है। उसमें पूर्णता नहीं है और मोह ज्ञानका विरोधी है। उसमें प्रकाश नहीं है। पूर्णज्ञान, पूर्ण प्रकाश परमात्मामें ही है। अतः ज्ञान तथा पूर्णत्वके इन विरोधियोंको छोड़कर चले तो मार्गमें माया मिली। माया बहुत चमकीली है। ठग ज्यादा मधुरभाषी होता है। धूर्त अधिक लोभ दिखलाते हैं। माया रोकती है। इससे बचनेका उपाय है 'जित संगदोषा।'

यह भीड़ लेकर चलनेका मार्ग नहीं है। यह अकेलेका रास्ता है। यह बाहर जानेका नहीं, भीतर लौटनेका मार्ग है। विषयोंसे इन्द्रियोंमें, इन्द्रियोंसे मनमें, मनसे बुद्धिमें और बुद्धिसे अपने-आपमें लौटना है। अतः यह बहुत संकीर्ण मार्ग है—'प्रेमगली अति साँकरी' बहुत सँकरा पथ है।

'अतिसूछम मृनालके तारहुँ तें
तेहि ऊपर पाँव दै धावनो है।'

कमलनाल तोड़नेपर जो रेशे निकलते हैं, यह मार्ग उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है और उसपर पैर रखते हुए चलना है। इसलिए यह अकेले चलनेका पथ है।

'वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि।'

बहुत लोग होते हैं तो झगड़ा होता है और दो रहते हैं तो बातचीत होती है—संसारकी चर्चा होती है। संग होगा तो दोष आयेंगे। साथ चलनेवाला भला हुआ तो उससे राग–आसक्ति हो जायगी और दुष्ट हुआ तो द्वेष हो जायगा। इसलिए परमार्थका साथी

वह है जो संगको—रागको दूर करे। परमार्थका गुरु विवाह करानेवाला नहीं होता। वह तो आसक्ति मिटानेवाला होता है।

जैसे कालबादेवी रोडपर चलते हैं तो किसीको हाथ जोड़ लेते हैं, किसीको मस्तक झुका देते हैं, किसीको देखकर मुस्करा देते हैं और किसीको देखकर ग्लानि या कुछ रोष भी होता है; किन्तु न किसीको घर बुलाते और न किसोको मारने दौड़ते। सबको वहीं रास्तेपर भूलते चलते हैं। यह संग-दोषसे पृथक् रहना हुआ।

ये संसारके जो सम्बन्धी हैं; माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, मित्र-शत्रु आदि, ये सब धर्मशालेमें मिले यात्रीके समान हैं। किसीके मरनेपर रो-रोकर घुलो मत। अपने चित्तकी स्वस्थताको नष्ट मत करो।

'निर्मानमोहा' अपनी प्रधानतासे है, 'जितसंगदोषाः' दूसरोंकी प्रधानतासे और 'विनिवृत्तकामाः' विषयकी प्रधानतासे है।

'विनिवृत्तकामाः' अपनेसे बाहर मत जाओ। मनको नेत्रमें, कानमें, नासिकामें, रसनामें या त्वचामें मत जाने दो। विषयोंको बाहरसे ही लौटा दो। ये विषय मनका हरण करनेवाले हैं। आपके घरके दरवाजेपर कोई चोर या डाकू जैसा दीखता मनुष्य आकर घंटी बजाये तो आप उसे द्वार खोलकर भीतर आने दोगे या बाहरसे ही लौटा दोगे? इसी प्रकार विषयोंको भी भीतर मत आने दो। उन्हें लौटा दो।

यह कैसे हो? निर्मान-मोह कैसे हुआ जाय? द्वन्द्व कैसे छूटें? विषयोंको बाहरसे ही कैसे लौटाया जाय? इसका उपाय बताया— 'अध्यात्मनित्या' अर्थात् मृत्युपर्यन्त गुरुको मत छोड़ो, साधनको मत छोड़ो, इष्टको मत छोड़ो। स्वाध्यायमें, जपमें, ध्यानमें, परमात्माके

चिन्तनमें मनको लगाये रहो। इसका फल होगा 'द्वन्द्वैर्विमुक्ता' द्वन्द्वोंसे छुटकारा, 'अमूढा' ज्ञानकी प्राप्ति और उससे अव्यय पदको पा लेना।

अर्थ करनेकी एक प्रणाली यह है कि 'निर्मानमोहा' अतएव 'जितसंगदोषा' अर्थात् मान और मोहको त्याग दिया, अतः संगके दोष जीत लिये गये। दूसरी रीति है 'जितसंगदोषाः' अतएव 'निर्मान मोहाः'।

'चाखा चाहे प्रेमरस, राखा चाहे मान।
एक म्यानमें दो खड़ग, देखा सुना न कान॥'

भगवान्‌से प्रेम भी हो और मान भी रहे, यह दोनों बातें नहीं हो सकती। इसी प्रकार ज्ञान भी रहे और मान भी, यह भी सम्भव नहीं। गोस्वामी तुलसीदासने ज्ञानका स्वरूप बतलाया है— 'ज्ञान मान जहँ एकहु नाहीं।'

ज्ञान वह है, जिसमें एक भी मान नहीं है। मनका अर्थ अभिमान। जातिका अभिमान, कुलका अभिमान, रूपका अभिमान, बलका अभिमान, विद्याका अभिमान; पदका अभिमान, स्वजनोंका अभिमान, यशका अभिमान, जप-तप,ध्यान-ज्ञानका अभिमान और निरभिमानताका अभिमान, इस प्रकार अनेक प्रकारका अभिमान होता है। इनमें-से कोई भी अभिमान जहाँ नहीं है, वहाँ ज्ञान है।

एक बार श्री उड़ियाबाजीके पास काशीके एक विद्वान् आये। उन्होंने बाबासे कहा—'मैं आपसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करने आया हूँ।'

बाबाने कहा—'आप तो अद्वैत वेदान्तके विद्वान् हो।

शास्त्रीय ग्रंथ आपने पढ़े हैं और पढ़ाते हैं। आपको मैं क्या बतलाऊँगा। आप ही मुझे कुछ सुनाओ।'

पण्डितजीने सुनाना प्रारम्भ किया और अपना प्रवचन सुनाकर चले गये। आये थे ज्ञान प्राप्त करने; किन्तु विद्याके अभिमानके जगते ही ज्ञानसे वंचित हो गये। पुस्तकोंके अध्ययनसे तो ज्ञान होता नहीं, तत्त्वज्ञ महापुरुषके मुखसे श्रवण करनेसे ज्ञान होता है।

ज्ञानकी धारा निम्नगामिनी होती है। जो नीचे बैठता है, नम्रतापूर्वक मस्तक झुकाकर श्रवण करता है—उसके प्रति गुरुके हृदयसे उसकें रसकी धारा प्रवाहित होती है। जल जैसे नीचेकी ओर प्रवाहित होता है, ज्ञान भी वैसे ही विनम्रको मिलता है। ऊपर बैठकर, गर्वसे मस्तक उठाकर ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

गीताका एक हनुमद् भाष्य है। उसका नाम पैशाचभाष्य है। उसकी भूमिकामें एक कथा लिखी है। महाभारतके युद्धमें भगवात् श्रीकृष्ण जब अर्जुनको गीताका उपदेश कर रहे थे, तब अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठे हनुमान्‌जी भी बड़े ध्यानसे वह उपदेश श्रवण कर रहे थे। जब महाभारतका युद्ध समाप्त हो गया और रथके भस्म होनेका समय आया, हनुमान्‌जी ध्वजासे कूदकर नीचे आये और भगवान्‌के समीप जाकर बोले—'प्रभो, आपने युद्धके प्रारम्भमें जो ज्ञानोपदेश अर्जुनको किया था, उसे मैंने भी सुना है। मैं ज्ञानका चोर न समझा जाऊँ इसलिए आपको निवेदन कर दिया।'

दूसरोंकी बात सुनकर, पढ़कर फिर उसे अपने नामसे छपवा देनेवाले आजके लोगोंको क्या कहा जाय? पहिले तो गुरुके

अनजाने सुनना भी ज्ञानकी चोरी मानी जाती थी। हनुमान्‌जीकी बात सुनकर भगवान्‌ने कहा—'हनुमान्, तुमने गीताका उपदेश सुन लिया, इसमें तो कोई दोष नहीं। तुम उचित अधिकारी हो; किन्तु तुमने सुनानेवालेसे उच्च आसनपर बैठकर सुना, इस दोषसे तुम्हें पिशाच होना पड़ेगा।'

'बड़ी प्रसन्नताकी बात है' कहकर हनुमान्‌जीने पिशाच होना स्वीकार कर लिया; क्योंकि जो सच्चे भगवद्भक्त हैं उन्हें तो कहीं, किसी योनिमें डर लगता नहीं।

'सरग नरक अपबरग समाना।
जहँ तहँ दीख धरे धनुबाना॥'

हनुमान्‌जीको तो सर्वत्र अपने स्वामीके ही दर्शन होते थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने बताया—'जब तुम गीतापर एक भाष्य बना लोगे, तब पिशाचत्वसे छूट जाओगे।'

इस कथाका तात्पर्य यह है कि अपने अहंकारको नीचा किये विना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है। ज्ञानसे मान बाधित हो जाता है। ज्ञान मानको खण्डित कर देता है। 'मुह् वैचित्त्ये' चित्तकी विपरीतावस्थाका नाम मोह है। चेतनको जड़ मानना, आनन्दको दुःख मानना, द्रष्टाको दृश्य मानना, यह चित्तकी विपरीतता ही मोह है।

निरुपद्रव अवस्थामें चित्तमें मोहका होना पता नहीं लगता। एक सज्जन घरसे ज्ञानकी प्राप्तिके लिये चले। उनसे मैंने घरके बाल-बच्चोंका हाल पूछा तो बोले—'अब उनकी चर्चा मत कीजिये मैं तो सबको त्यागकर आया हूँ। मुझे तो अब आत्मज्ञान प्राप्त करना है।' दो-चार दिन ठीक रहे। इसके बाद घरसे पत्र आया

कि उनके जमाई आनेवाले हैं। बस, वे चल खड़े हुए और घर गये तो फिर बहुत दिनोंतक नहीं आये।

मोह विचारको नष्ट कर देता है। उसके कारण मनुष्य न्याय-अन्याय नहीं देख-समझ पाता। एक स्थानपर दो बच्चे बीमार पड़े थे। चेष्टा करनेपर भी केवल एक छटाँक दूध ही मिल सका। दोनों बीमार बच्चोंमें-से एककी माता वहाँ थी। उसने वह पूरा दूध अपने बच्चेको पिला दिया। दूसरा बच्चा भी बीमार है। उसे भी दूधकी आवश्यकता है। दूध उसे न देना इस समय बड़ा अन्याय है। यह सब बातें उस माताने सोची ही नहीं। ऐसा क्यों हुआ? मोहके कारण। मोह व्यक्तिके विवेकको, उसकी विचारशक्तिको नष्ट करके उससे अन्याय, पक्षपात कराता है।

मोह विचार नष्ट करता है और मान दूसरोंको अपनेसे नीचा समझता है। अतः भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिए 'निर्मानमोह' होना पड़ेगा।

'जितसंगदोषा' लोगोंमें रहनेसे उनके साथका जो प्रभाव पड़ता है, उसे संगदोष कहते हैं। योगी भी संगदोषसे गिर जाते हैं। एक मारवाड़ी सज्जन थे। बड़े ही आचारनिष्ठ थे। बहुत शुद्धतासे सिले कपड़े उतारकर भोजन करनेवाले थे। उनके पास धन आया तो उन्होंने क्लब जाना प्रारम्भ किया। पहिले वहाँ केवल अलग बैठे देखते रहते थे। उसके बाद खेलमें सम्मिलित होने लगे। फिर घरसे बना भोजन वहाँ मँगाकर करने लगे। आग्रह करनेवाले मित्रोंने उन्हें वहीं फल मेवा खानेको और पीछे निरामिष भोजन करनेको राजी कर लिया। यह बात बढ़ती गयी

और आगे चलकर वह मांस खाने, शराब पीने लगे। जब धन चला गया, तव वे चेते। फिर तो वे एक आश्रममें जाकर रहने लगे थे।

'यादृशान् सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृक् भवति पूरुषः॥'

मनुष्य जैसे लोगोंमें उठता-बैठता है, जैसे लोगोंकी सेवा करता है, वैसा ही वह स्वयं वन जाता है। जो कृष्णभक्त अयोध्या जाकर रहने लगते हैं, वे रामभक्त बन जाते हैं। जो रामभक्त वृन्दावनमें रहने लगते हैं, वे श्रीकृष्णकी भक्तिमें लग जाते हैं। जो राम या कृष्णके भक्त हरिद्वार रहने लगते हैं, वे शिवभक्त हो जाते हैं। यह संगका प्रभाव है। वैसे राम, कृष्ण, विष्णु, शिव शक्तिमें तनिक भी अन्तर नहीं है; किन्तु साधकमें तो अपने इष्टको, अपने गुरुकी, अपने मन्त्रकी दृढ़ निष्ठा होनी चाहिए।

साधकको विषयोंमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। अपनी प्रणाली चलानेका हठ–मान नहीं करना चाहिए। कहीं संकीर्तन हो रहा था। वहाँ एक सज्जन पहुँचे तो उन्होंने अपने कानोंमें अंगुली डाल ली और बोले–'तुम लोग यह क्या अनर्थ कर रहे हो? पहिले 'हरे राम हरे राम' क्यों बोलते हो? पहिले 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' बोलना चाहिए।' यह अपनी प्रणालीका अभिमान है, जो साधकमें नहीं होना चाहिए और उसे असंगभावमें स्थित होना चाहिए।

'सत्संगत्वे निःसंगत्वं, निःसंगत्वे निर्मोहत्वम्।'

सत्संग करनेमें असंगता प्राप्त होती है और असंगता आनेपर

मोह छूट जाता है। कहीं किसीके फन्देमें मत फँसो! असंग रहो सबसे।

'अध्यात्मनित्या' अध्यात्मका अर्थ परमात्माको प्राप्त करानेवाला साधन। सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते सब समय उस परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लगे रहो। चलो तो समझो कि परमात्माको पानेके लिए चलते हैं। सोओ तो भजनके लिए, स्वस्थ शरीर रखनेको सोओ। खाओ, पानी पियो तो परमात्माको पानेका साधन करनेके लिए, जीवन धारणके लिए खाते-पीते हैं, यह समझो।

'अध्यात्म' का अर्थ है आत्मा-परमात्माको पानेके लिए जो तुम्हारा भाव-देह है, वहाँ उस भाव-देहमें सदा रहो। गुरुने जो दीक्षाके द्वारा तुम्हें शुद्ध देह दिया है, गुरुदीक्षासे जो तुम्हारा जन्म हुआ है और उस भाव-देहको साधन-भजनके दूधसे जो बढ़ा रहे हो, उसी देहमें सदा रहो। वह जिज्ञासु, मुमुक्षु या भगवत्पार्षदका जो भावदेह है, वही अध्यात्म है। उसी देहमें बैठकर परमात्माका अनुसन्धान करो। इन हड्डी-मांस, मल-मूत्रके शरीरका अभिमान छोड़ दो।

भक्त, ज्ञानी, योगी कोई भी इस पाञ्चभौतिक देहको आत्मा नहीं मानता। भगवान्‌से मिलना है, उस सच्चिदानन्द स्वरूपके गले लगना है, तब क्या यह मल-मूत्रका पुतला उसके गले लगेगा? उससे मिलने योग्य जो दिव्य भावमय देह है, उसमें बैठो।

ये कथावाचक, वक्ता आदि जैसे होते हैं, अपने श्रोताको मानसिक रूपसे वहाँ पहुँचा देते हैं। एक वक्ता कहता है—'एक खटिक था। उसके झोपड़ेमें एक ओर बहुत-से सुअर रहते थे अपनी

माँदमें। उसका काला मोटा लड़का था। दूसरा कथा वाचक कहता है—'श्री वृन्दावन धाम है। सुन्दर पुष्पित लताओंके कुञ्ज हैं। फलभारसे झुके वृक्षोंपर पक्षी कूज रहे हैं। भौंरे गुंजार कर रहे हैं। श्री यमुनाका नीला जल लहरें ले रहा है। गायें चर रही हैं। बछड़े कूद रहे हैं। मयूर नाच रहे हैं। गोपबालक नाना प्रकारके खेलोंमें लगे हैं। सबके बीचमें नन्दनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन पीताम्बरधारी मुरलीमनोहर श्रीकृष्णचन्द्र एक बालकके कन्धेपर वाम भुजा फैलाये ललित त्रिभंग होकर खड़े हैं।' इन वक्ताओंमें एक ने जहाँ आपको एक गन्दी झोंपड़ीमें पहुँचा दिया था, दूसरेने आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके सम्मुख खड़ा कर दिया। इस प्रकार सोते-जागते, खाते-पीते उस अपने भावदेहमें ही रहो। परमात्माके चिन्तनमें ही लगे रहो।

'हरिसे लागा रहु रे भाई, तेरी बनत बनत बनि जाई।'

'अध्यात्मनित्या' हुए तो एक ओर 'जितसंगदोषा', 'निर्मानमोहा' अपने-आप हो गये और 'विनिवृत्तकामाः' भी हो गये। कामनाओंको छोड़ना नहीं पड़ा, वे अपने-आप ही दरवाजेपर-से ही लौट गयीं।

'प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि आप पथिक फिरि जाय॥'

सब बुराइयाँ बेकारीमें-से ही निकलती हैं। 'खाली दिल, शैतानका घर।' जुआ कहाँ होता है? चोर कहाँ छिपते हैं? अनाचार कहाँ होता है? डाकू कहाँ अड्डे बनाते हैं? एक ही उत्तर है, सुन-

सान खाली स्थानमें। इसलिए मनको खाली मत रहने दो। उसमें ईश्वरको भर दो, तब काम अपने-आप लौट जायगा।

क+आम=काम। 'क'का अर्थ सुख और 'आम'का अर्थ कच्चा, अतः कामका अर्थ हुआ सुख। जो पक्के लोग हैं, वे इस कच्चे सुखको पसन्द नहीं करते।

काम अपनी हीनताका, अपनी दरिद्रताका प्रदर्शन है। यह मनुष्यको नंगा करके रख देता है। अपने भीतर सुख नहीं था, तब तो इन्द्रियोंके रथपर बैठकर विषयोंमें सुख ढूँढ़ने निकले।

'दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।'

लेकिन दिलमें जिसके कोई सुन्दर नहीं, वह कंकाल नेत्रके रास्ते बाहर रूप देखने निकलता है। जिसके भीतर कोई रस नहीं, वह रसनाके द्वारा पदार्थोंमें रस ढूँढ़ता है। भीतर कोई सुस्वर नहीं, अतः कानके द्वारा बाहर संगीतकी खोज करता है। भीतर कोई सौरभ नहीं, कोई सौकुमार्य नहीं, अतः नासिका और त्वचाके द्वारा जगत्में सुगन्ध और सुस्पर्श पाने आता है।

लखनऊमें नीबू-निचोड़ लोग नवाबी ज़मानेमें होते थे। घरमें अच्छा भोजन नहीं मिलता था तो एक नीबू लेकर किसी भले घर चले जाते थे भोजनके समय और उस घरके व्यक्तिके भोजनमें अपना नीबू निचोड़ देते थे। सभ्यताके नाते वह भला आदमी उन्हें अपने साथ भोजन करनेको कहता था। इस प्रकार वे अपनी जीभ तृप्त करते थे। लेकिन उनकी दरिद्रता सबपर खुल तो जाती ही थी।

'मेरो मन हरिजू हठ न तजै।
निसि दिन नाथ देऊँ सिख बहु विधि, करत सुभाउ निजै॥
लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥

विषयोंमें, कामनाओंके पीछे भटकनेवाला मन कुत्तेके समान है। जैसे कुत्ता पीटा जाता है, भगाया जाता है, ऐसे ही अपमान उठाना पड़ता है कामनाके पीछे लगकर।

जब भगवान्‌से मिलना है तो शरीरमें जो यह कामकी खाज हो रही है—काम खाज ही है, उसे मिटाकर मिलना है। यह खाज मिटे कैसे ? जो भगवान्‌के नाम-जप, लीला-चिन्तन, रूप-ध्यान, तत्त्व-विचारमें लगा है, जिसका चित्त खाली नहीं है, काम उसके द्वारसे ही लौट जायगा। हृदयमें स्थान ही नहीं तो वह रहेगा कहाँ ?

कोई मौलवी साहब चादर बिछाये नमाज़ पढ़ रहे थे। एक स्त्री अपने प्रेमीसे मिलने निकली और मौलवी साहबकी चादर-पर-से होती चली गयी। मौलवीको क्रोध तो बहुत आया; किन्तु उस समय नमाज़ पढ़ रहे थे। नमाज़ पूरी हुई तो लौटती हुई वह स्त्री दीखी। उसपर बिगड़ने लगे। उस स्त्रीने उत्तर दिया—'मैं तो एक संसारी मनुष्यसे मिलने जा रही थी, इससे आपकी चादर देख नहीं सकी और आपने परमात्मासे मिलनेकी तैयारीके समय मुझे देख लिया, यह कितने आश्चर्यकी बात है !'

परमात्मासे मिलनेके लिए उस स्त्रीके समान ध्यानमग्न होना है। इस 'अध्यात्मनित्या'का फल है 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः'

द्वन्द्व कहते हैं दो-दोकी जोड़ीको। सर्दी-गर्मी, राग-द्वेष, कोमल-कठोर, सुरूप-कुरूप, सुगन्ध-दुर्गन्ध, जन्म-मृत्यु आदि दो-दोकी जोड़ी है। ये द्वन्द्व एक नहीं, बहुत-से और सुख या दुःख देनेवाले हैं। सुखद-दुःखद रूप है इनका। सुख और दुःख दोनोंके अन्तमें 'ख' तो एक ही है। 'ख'का अर्थ है ब्रह्म अथवा आकाश। अन्धकार दुःख है, प्रकाश सुख है। हृदयके आकाशमें जब अन्धकार होता है, कुछ दिखायी नहीं देता, तब दुःख होता है और जब प्रकाश होता है, तब सुख होता है।

वर्षा, धुआँ, धूल आकाशमें आती-जाती रहती है; किन्तु आकाश ज्यों-का-त्यों इनसे निर्लिप्त रहता है। कानके आकाशमें जैसे ध्वनि टकराती है, वैसे ही हृदयाकाशमें जब अनुकूलकी प्राप्तिका प्रकाश होता है, विषयोपलब्धि होती है, तब सुख और जब विषय नहीं मिलता, अन्धकार होता है, तब दुःख होता है। जब राग-द्वेष दोनों नहीं होते, तब शान्ति रहती है।

अतएव केवल 'ख' रहने दो। 'सु' और 'दु'की जो उपाधि है, उसे निकाल दो। हृदयाकाश स्वभावसे तो स्वच्छ, निर्लिप्त है ही, जो इस 'सु' और 'दु'की उपाधि दूर कर देते हैं, वे 'अमूढ़' हैं। उनका अज्ञान मिट गया। वे ज्ञानी हैं। ऐसे ज्ञानी उस अविनाशी 'अव्यय' पदको पाते हैं।

गीतापर लगभग तीन सौ वर्ष प्राचीन एक पद्यात्मक टीका है। उसमें किसी श्लोकपर दस, किसी पर दससे अधिक बीस तक पद्य हैं। उस टीकामें इस श्लोकमें चार विभाग माने गये हैं—
१. ग्राह्य २. त्याज्य ३. अवान्तर फल और ४. परम फल।

इनमें-से 'निर्मान-मोह' त्याज्यके अन्तर्गत है और 'जितसंग-दोषा' भी इसीमें है। 'अध्यात्मनित्या' यह ग्राह्य है। 'विनिवृत्त-कामाः' तथा 'द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुख-दुःखसंज्ञैः' ये अवान्तर फल हैं और 'गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्' यह परम फल है।

'अध्यात्मनित्या' इसमें चार बातें हैं—१. आत्मा क्या २. परमात्मा क्या, यह विचार। ३. गुरुका सान्निध्य ४. वेदान्तका अभ्यास।

'निर्मानमोह' कैसे हों? 'अध्यात्मनित्या' बननेसे होंगे। आत्मा द्रष्टा है, चेतन है, साक्षी है, स्वयंप्रकाश है आदि विवेक जैसे-जैसे होता जायगा, वैसे-वैसे मान और मोह छूटते जायँगे।

मान और मोह छोड़ना तो चाहते हैं; किन्तु वे छूटते नहीं। ऐसा क्यों होता है? यह होता है संग-दोषसे। यह संग-दोष कई प्रकारका होता है। माता-पिताका संग, स्त्री-पुत्रका संग, परिवार—मित्रादिका संग, ये सब संग हैं। अब यदि पिता बीड़ी-सिगरेट पीता है तो पुत्र भी पीने लगे, यह संग-दोष हुआ। पिता पीते हैं, इसलिए बीड़ी-सिगरेट पीनेमें दोष नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। पिता करे, उसे पुत्रको करनेमें क्या दोष, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

पुराने समयमें जब गुरुके आश्रममें अध्ययन समाप्त करके छात्र घर लौटने लगता था, तब गुरु उसे आदेश देते हुए कहते थे—'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।' अर्थात् 'प्रिय शिष्य', तुम बारह वर्ष मेरे साथ रहे हो! इस दीर्घ-कालमें तुमने देखा होगा कि मुझमें बहुत-से गुण हैं, बहुत-सी

अच्छाइयाँ हैं। साथ ही मुझमें दोष–त्रुटियाँ भी तुमने देखी होंगी। अतः अब घर जाकर तुम मेरे गुणोंका, अच्छाइयोंका आचरण करना और मुझमें जो दोष, त्रुटि तुम्हें जान पड़ी हो, उसे छोड़ देना। उसे अपने जीवनमें मत आने देना।'

हमपर अपने घर, कुल, गोत्र, परिवार, जाति, देश आदिका जो प्रभाव पड़ता है, सावधानीपूर्वक उसे न पड़ने दें. यह संग-दोषको जीतना हुआ।

एक महात्मा जंगलमें रहते थे। एक बार वे उस देशकी राजधानीमें पहुँचे। संयोगवश उन्हीं दिनों उस देशका राजा मर गया था और नये राजाका चुनाव होना था। प्रथा यह थी कि हाथी जिसके गलेमें माला डाल दे, उसे राजा बना दिया जाता था। उस समय हाथीने इन महात्माके गलेमें माला डाल दी। लोगोंने महात्माको सिंहासनपर बैठा दिया।

राजा हुए तो राजाके वस्त्राभूषण पहिनने पड़े। लेकिन अपनी कौपीन, अँचला, कमण्डलु महात्माने एक पेटीमें रखवाकर उन्हें तहखानेमें सुरक्षित रखवा दिया। तहखानेकी ताली वे अपने पास ही रखते थे। राजकार्य समाप्त करके प्रतिदिन रात्रिके प्रारम्भमें तहखानेमें जाते और राजसी वस्त्र उतारकर लंगोटी लगा लेते। वहाँ अपना ध्यान-चिन्तन करते रहते। बहुत देरमें राजाके वस्त्र पहिनकर ऊपर लौटते।

राज्यके मन्त्रीको सन्देह हुआ कि भिक्षुकको राजा बना दिया गया है और यह प्रतिदिन अकेले तहखानेमें देरतक रहता है,

तो इसमें कुछ रहस्य होना चाहिए। मन्त्रीने अपने मित्रोंसे कहा और बात इस रूपमें बढ़ने लगी कि राजा इस राज्यके बहुमूल्य रत्न धीरे-धीरे तहखानेमें एकत्र कर रहा है और किसी दिन उन्हें लेकर भाग जानेवाला है।

लोगोंमें असन्तोष फैलने लगा। बात राजा बने महात्माके कानतक पहुँची। उन्होंने राज्यके मुख्य पुरुषोंको एकत्र किया। सबके सामने तहखानेमें गये और वहाँसे लंगोटी-अँचला पहिने, कमण्डलु लिये निकल आये। बोले—'मैं जैसे आया था, वैसे जा रहा हूँ। अपना तहखाना और राज्य तुम लोग सम्हाल लो।'

तहखानेमें भला क्या धरा था। लोग बहुत निराश हुए। पश्चात्ताप भी सबको हुआ। महात्मा इतने दिनों राजाके पदपर रहे, राज्यसुख भोगा उन्होंने; किन्तु संगके दोषका प्रभाव अपनेपर नहीं होने दिया था।

इसके विपरीत मैं एक व्यक्तिको जानता हूँ। वे वाराणसीके ही हैं। पहिले बहुत साधारण स्थितिके थे। एक बार गीता प्रेसको तार दिया था उन्होंने कि घरपर बच्चे भूखे हैं। भोजनके लिए कुछ नहीं है। उस समय वे अस्सी रुपयेसे लेकर डेढ़ सौ रुपये महीनेमें आनन्दसे काम चलाते थे। अब उच्च पदपर पहुँच गये। अब यह अवस्था है कि उनका काम दो हजार रुपये महीनेके बिना नहीं चलता। इतनी व्यवस्था होनी ही चाहिए, यह उनका प्रयत्न रहता है। यह संग-दोषसे अभिभूत हो जानेकी अवस्था है।

राम और काम दोनों ही निरावरण करते हैं। अब आप देखो कि रामके लिए आपको निरावरण होना पसन्द है या कामके लिए।

क्योंकि संगके दोष लिपट गये तो रामकी प्राप्तिके लिए आवरण भंग करनेमें बाधा डालेंगे।

आत्मा-अनात्माके विवेकसे मान और मोह पर विजय प्राप्त होती है। गुरुकी सेवासे संग-दोष छूटते हैं; क्योंकि गुरुकी सेवामें रहनेपर गुरुसे पीछे सोना और पहिले जागना पड़ता है। कष्ट उठाना पड़ता है। उठने-बैठने, हँसने-बोलने आदि सभी व्यवहारमें सावधानी तथा शालीनता रखनी पड़ती है। तप, तितिक्षा और स्वाध्याय होते हैं। ईश्वरभक्तिसे कामनाओंकी निवृत्ति होती है। मन भगवान्‌में लगा रहेगा, तब न संसारका रूप दीखेगा, न शब्द सुनाई पड़ेगा। न बाहरका रस मिलेगा, न स्पर्श और न गन्ध ही। मनमें विषयोंका चिन्तन भी नहीं होगा, यदि मन ईश्वर-चिन्तनमें लगा है।

गुरुके संगसे संग-दोष छूटते हैं। केवल सत्संगसे संग-दोषकी निवृत्ति नहीं होती, यह बात यहाँ ध्यानमें रख लेनी चाहिए। क्योंकि सन्त तो बहुत-से हैं। सबके भिन्न-भिन्न साधन हैं, भिन्न-भिन्न इष्ट हैं, भिन्न-भिन्न मन्त्र हैं। गुरु वह है जो उन भिन्न-भिन्न साधनोंमें, मन्त्रोंमें, इष्टोंमें एकत्वका दर्शन करता हो। जो उनमें एक ही तत्त्व, एक ही लक्ष्यकी प्राप्तिकी चेष्टा तथा एक ही निष्ठाको देखे और शिष्यके पूर्व संस्कार, रुचि एवं अधिकारके अनुसार उसे इष्ट, मन्त्र तथा साधन बताये। राममें रुचि रखनेवालेको रामकी, कृष्णमें रुचि रखनेवालेको कृष्णकी, और शिवमें रुचि रखनेवालेको शिवकी उपासना बताये। जो शिष्यके चित्तमें राग-द्वेष उत्पन्न न करे। शिष्यके चित्तको राग-द्वेषसे रहित बनाकर शुद्ध करे।

इस प्रकार विवेकके द्वारा मान–मोहकी विजय, गुरुके संगसे संग-दोषपर विजय और ईश्वरभक्तिसे कामनाओंको लौटा देनेपर अवान्तर फल—वह फल जो लक्ष्यकी ओर जानेके मार्गमें अनचाहे मिल गया, यह है 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः ।'

मान-मोह छूट जाय तब वेदान्तका विचार नहीं होता। वेदान्त-विचार, आत्मानात्मविवेक करनेसे मान-मोह छूटता है। संग-दोष दूर हो जायँ, तब गुरुकी शरण जायँगे, यह भ्रान्तभाव है। गुरुकी शरण जानेसे संग-दोष छूटेंगे। कामनाएँ मिट जायँ तब भक्ति नहीं, ईश्वरकी भक्ति करोगे तब कामनाएँ दूर होंगी।

बहुत-से लोग त्याग ही त्यागकी बात करते हैं। वे कोई आश्रय नहीं बतलाते। इस प्रकार बिना आश्रयके त्याग नहीं होता। 'अपने विवेकके प्रकाशमें जो असत् जान पड़े, उसे त्याग दो।' यह बात इसलिए नहीं बनती कि बिना सहारेके त्याग करना बहुत ही कठिन है। इसलिए अपने आत्मा-अनात्माके विवेकके सहारे मान-मोहका त्याग, गुरुके सहारे संग-दोषका त्याग और ईश्वरकी उपासनाके सहारे कामनाओंपर विजय प्राप्त करो। इतना करके जब ईश्वरकी ओर चलें तो मार्गमें ही यह फल मिला कि सुख-दुःख देनेवाले द्वन्द्वोंसे छूट गये।

जो घटनाएँ, जो परिस्थितियाँ संसारी लोगोंको दुःख देती हैं वे विरक्तको प्रसन्नता देती हैं। जिन बातोंमें संसारी पुरुष आनन्दसे फूल उठते हैं, विरक्त पुरुष उन्हें निःसार समझते हैं।

'काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः ।'

जो कौएका दिन है, वह उल्लूकी रात है और जो कौएकी

रात है, वह उल्लूका दिन है। इसी प्रकार अज्ञानी जिसमें सुख, प्रकाश देखता है, ज्ञानीको वह असत्, अन्धकार दीखता है और अज्ञानी जिस विषयमें अन्धकारमें है, वह ज्ञानीको प्रकाशस्वरूप दीखता है।

आपसे कोई कहता है—'साधुओंके पास मत जाया करो। वे तुम्हें ठग लेंगे।' निश्चय ही वह आपका धन बचाना चाहता है और आपका हितैषी है। लौकिक दृष्टिसे उसकी सलाह ठीक है। लेकिन उसने श्रद्धाके स्थानपर सन्देह उत्पन्न किया। ईश्वरके स्थानपर धनका महत्त्व आपकी बुद्धिमें बैठाया। कोई आपका प्रेम, वैराग्य, श्रद्धा, साधन तो ठग सकता नहीं। जो भगवान्‌को पाना चाहता है, उसे धनमें इतनी महत्त्वबुद्धि क्यों हो कि धन ठगे जानेके डरसे वह सत्संगसे ही वञ्चित रहे। इस प्रकारकी शंका वैराग्यकी कमीसे होती है।

भारतमें किसीके पुत्री उत्पन्न होती है तो वह प्रसन्न नहीं होता। वह सोचने लगता है कि यह कन्या उसका धन ले जायगी। इसके विवाहमें उसे खर्च करना पड़ेगा। लेकिन पुत्र होता है तो बहुत उत्सव मनाया जाता है। लोग समझते हैं कि पुत्र उन्हें बुढ़ापेमें खिलायेगा, उनकी सेवा करेगा। इसका तात्पर्य यह है कि बूढ़े होनेपर, रोग-जर्जर होनेपर भी वे घरमें ही रहना चाहते हैं। युवावस्था, तारुण्य तो घरमें रहकर कमानेमें बितायेंगे ही, प्रौढ़ होनेतक भी कमायेंगे और वृद्ध होनेपर भी बेटेसे सेवा लेते हुए घरमें ही मरनेकी कामना करते हैं। लेकिन जिसमें वैराग्य है, वह तो कहीं हिमालयमें, काशीमें, वृन्दावनमें जाकर भजन करते हुए

दिन व्यतीत करनेकी कामना करता है। उसे बेटा भी वैसा ही है जैसी बेटी। उसे कहाँ बुढ़ापेमें पुत्रसे सेवा पानेकी कामना है? वह तो सोचता है—

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
सम्प्राप्स्यन्ते जरठहरिणाः श्रृङ्गकण्डूविनोदम्॥

गंगा किनारे, हिमालयकी गोदमें, किसी शिलापर पद्मासन लगाकर बैठेंगे और ब्रह्मचिन्तन करते हुए समाधिमें स्थित हो जायेंगे। उस समय बूढ़े हरिण हमारी देहसे अपने सींग और शरीर रगड़कर आनन्दित होंगे। ऐसा धन्य दिन हमारे जीवनमें कब आयेगा?

'एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

हे शम्भो, मेरे जीवनमें वह शुभ दिन कब आयेगा जब मैं अकेला निःस्पृह शान्त, पात्ररहित और दिगम्बर होकर रहूँगा तथा कर्ममूलक संसारका उन्मूलन कर सकूँगा।

'कदा वृन्दारण्ये तपनतनयातीरपुलिने
चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम्।
अये कृष्ण स्वामिन् मधुरमुरलीवादन विभो
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्।'

ऐसा दिन कब होगा जब हमारे नेत्रोंके सम्मुख श्रीवृन्दावनमें कलित कालिन्दी पुलिनपर बड़े भाई बलरामजी तथा सुदामा

आदि सखाओंके साथ नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, पीताम्बरधारी, मयूरमुकुटी मन्द-मन्द मुस्कराते, मुरली बजाते क्रीड़ा करेंगे और हे स्वामी ! हे प्रभु ! इस जनपर भी कृपा करो, इस प्रकार पुकारते हुए हमारे दिन एक निमेषके समान बीत जाया करेंगे।

कदा वाराणस्यां विबुधतटिनीरोधसि वसन्,
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन,
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्।

मेरे जीवनमें वह शुभ समय कब होगा, जब वाराणसीमें सुरसरित् गंगाजीके पावन पुलिनपर तो रहूँगा, वस्त्रके नामपर होगा केवल कौपीन, अञ्जलि बँधी, शिर लगी। मुखसे पुकार रहा होऊँगा- अये गौरीनाथ, त्रिपुरारे, शम्भो, त्रिलोचन ! प्रसन्न हो जाओ, दर्शन दो ! इस प्रकार पल-पलके समान दिनपर दिन बिता दूँगा।

ये दिव्यभाव चित्तमें वैराग्यके प्रसादसे आते हैं। चित्तमें जब वैराग्य होता है, तब सुख-दुःख होता ही नहीं। गर्मी-सर्दी और रोग तप बन जाते हैं। जब ज्वर आया, तब सोचने लगे कि अपने-से तपस्या हुई नहीं थी, अब प्रभुने बड़ी कृपा की। यह शरीर अपने भीतरकी अग्निमें पञ्चाग्नि ताप रहा है। प्रारब्धसे आया भोग और उसे योग बना लिया भावनाके द्वारा। मृत्यु आयी तो सोच लिया कि अपने जीवनमें समाधि लगी नहीं थी, अब अच्छी समाधि भगवान्ने भेज दी और हमने भले अबतक यज्ञ न किया हो, अब इस शरीरका अग्निमें हवन होगा। इस प्रकार महात्माओंकी वृत्ति संसारियोंसे उलटी ही होती है।

'गच्छन्त्यमूढाः' मूढका अर्थ अटका हुआ और भटका हुआ, दोनों होता है। 'मूढो गर्भः' गर्भका शिशु जब माताके उदरमें टेढ़ा होकर अटक जाता है, तो उसे मूढ गर्भ कहते हैं और दिङ्मूढ तो प्रसिद्ध है। जो मार्ग भूलकर भटक जाय, वह दिङ्मूढ है। उसे अपने लक्ष्य—दिशाका ज्ञान नहीं रहा। इसी प्रकार जो जीव प्रकृतिके गर्भमें अटक गया है और अपने वास्तविक लक्ष्यकी ओर न जाकर भटक गया है, वह मूढ है।

जिसे मोह है, वह मूढ। बन्दरियाका बच्चा मर जाता है, तब भी वह उसे फेंकती नहीं, छातीसे चिपकाये फिरती है। इसी प्रकार संसारके पदार्थोंको जो पकड़े हैं, उन्हें बनाये रखना चाहते हैं, वे मूढ हैं।

'मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।'

भगवान् कहते हैं कि मैं अजन्मा, अव्यय (अविनाशी) हूँ, इसे ये मूढ लोग नहीं जानते और जो मूढ नहीं हैं, वे 'स्थिर बुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।' वे असम्मूढ तो स्थिरबुद्धि ब्रह्मवेत्ता हैं और ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

जो 'निर्माना-मोहा' हो गये, 'जितसंगदोषा'की स्थिति जिन्हें प्राप्त है और 'अध्यात्मनित्या' होनेके कारण 'विनिवृत्तकामाः' हो चुके हैं, वे 'सुखदुःखसंज्ञैः' द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर असम्मूढ अर्थात् ब्रह्मज्ञानी हो गये। अब मान लें कि इन गुणोंको धारण किये विना ही किसीको ब्रह्मज्ञान हो जाय तो उसकी क्या स्थिति होगी ? पहिली वात तो यह कि उसे ब्रह्मज्ञान हुआ है, यही वात सन्दिग्ध है।

सम्भावना यही अधिक है कि पुस्तकीय ज्ञानको ही उसने ब्रह्मज्ञान समझ लिया हो। मान लो कि किन्हीं विशेष संस्कारोंके कारण उसे ब्रह्मज्ञान हो ही गया है तो भी उसे जीवन्मुक्तिका अद्भुत सुख नहीं प्राप्त होगा और लोककल्याणकी क्षमता उसमें नहीं होगी। उसका ब्रह्मज्ञान भस्मसे ढँके अग्निके समान है। प्रज्वलित अग्नि प्रकाश देता है, शीत दूर करता है और भोजन बनानेका हेतु होता है; किन्तु भस्मसे ढँका अग्नि न प्रकाश देता, न सर्दी दूर करता और न भोजन ही पका सकता है।

'पदमव्ययं तत्' इसमें 'तत्'का अर्थ वह पद है जिसे अश्वत्थका ऊर्ध्वमूल पहिले बता आये हैं, 'ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं' अश्वत्थकी जटाओंको काटनेके पश्चात् सद्गुरुका आश्रय लेकर जिस पदका अन्वेषण करनेको कहा गया था, वह पद।

वह पद अव्यय है। इस अव्यय शब्दका प्रयोग गीतामें कई बार आया है। 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' संसाररूपी अश्वत्थको अव्यय कहा है। 'मूढोऽयं नाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम्' भगवान्ने अपनेको अव्यय कहा है। 'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्' आत्माको अव्यय कहा गया है। 'पदमव्ययं'में वह पद भी अव्यय कहा जा रहा है। अव्यय संसार, अव्यय आत्मा, अव्यय परमात्मा, अव्यय पद, इस सबका अर्थ है कि यह सब एक ही तत्त्व है जो अनेक रूपमें भासित हो रहा है।

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा।'

एक ही परमार्थ तत्त्व ईश्वर, जीव तथा जगत् तीनोंके रूपमें प्रतीत हो रहा है। अव्यय+अव्यय=अव्यय होता। अव्यय सदा एक ही रहता है। उस अव्यय पदको 'अमूढा गच्छन्ति' ज्ञानी प्राप्त करते हैं, अर्थात् वह ज्ञानसे प्राप्त होता है। ज्ञानके द्वारा अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति तो कर्मसमुच्चित ज्ञानके द्वारा होती है। केवल ज्ञानके द्वारा तो नित्यप्राप्त वस्तुकी अप्राप्तिका भ्रम ही दूर होता है। ज्ञानसे प्राप्त वस्तुकी ही प्राप्ति होती है। अतः 'गच्छन्ति'का अर्थ होगा 'अनुभवन्ति' अनुभव करते हैं।



● *संगति*

वह पद ऐसा नहीं है, जहाँ पैरसे चलकर जाना पड़े, देवदूत उठाकर या विमानमें बैठाकर ले जायँ और न अपनी सामर्थ्यसे सिद्ध शिलापर बैठकर जाना ही।

'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।'

वह ईश्वर तो तीनों लोकोंमें व्यापक है। वह यहीं है। उसे पानेके लिए कहीं जाना नहीं है। उसे देखेंगे, बोलेंगे या सोचेंगे, ऐसा नहीं है; क्योंकि नेत्रकी वहाँ गति नहीं, अतः देख नहीं सकते। वाणीकी गति नहीं, अतः उसका वर्णन नहीं कर सकते और मनकी गति नहीं, अतः सोच नहीं सकते। श्रुति कहती है—'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो गच्छति।' तब वह पद कैसा है? इसका वर्णन करते हैं—

६

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

उसे सूर्य, चन्द्र या अग्नि प्रकाशित नहीं करता। जहाँ जाकर किसीकी संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती, वह मेरा परमधाम है।

श्री अभिनवगुप्तपादकी गीतापर एक टीका है। उसे 'टुप् टीका' या टिप्पणी कहना अधिक उपयुक्त है। उसमें इस श्लोकपर

केवल एक पंक्तिकी टीका है। उसका अर्थ है—सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि कालपरिच्छिन्न, आने-जानेवाले (दृश्य), विनाशी और जड़ हैं, अतः इनकी उस पदमें गति नहीं है।

सूर्य नेत्रका देवता है, चन्द्रमा मनका देवता है और अग्नि वाणीका देवता है। सूर्य, चन्द्र और अग्नि उस पदको प्रकाशित नहीं करते, यह आधिदैविक जगत्में और मन, वाणी, नेत्रकी उसमें गति नहीं, यह आध्यात्मिक जगत्में सत्य है।

इन्द्रियाँ मन्त्री हैं और उनके सहायक सचिव हैं ये इन्द्रियोंके अधिदेवता। आत्मा इन्द्रियोंका प्रकाशक है, इन्द्रियोंसे परे है। उपनिषदोंमें निषेधकी प्रणाली दूसरी है। यहाँ गीतामें आधिदैविक रीतिसे वेद्यत्वका निषेध है। उपनिषदोंमें आध्यात्मिक वेद्यत्वके निषेधके अनेक प्रसङ्ग हैं—'न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनं' 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' 'ये मनसा न मनुते' 'यद् वाचा न भ्युदितम्।'

एक भगतजी थे, वे यह श्लोक प्रायः बोला करते थे—

'त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते,
ध्यानेन चेतःपरता हता ते।
स्तुत्यानया वाक्परता हता ते,
क्षमस्व शम्भो त्रिविधापराधान्॥'

हे शम्भो ! हम आपको प्राप्त करनेके लिए चलकर कहीं गये, इससे आपकी सर्वव्यापकतामें हमने विश्वास नहीं किया, उसे खण्डित किया। आप चित्तसे परे हैं, इसे न मानकर हम ध्यान करने बैठे और आप वाणीके विषय नहीं हैं, इसको न समझकर हम

आपकी स्तुति करने लगे। यह जो हमसे तीन प्रकारके अपराध हुए, उन्हें आप क्षमा करें।

तुम्हें पानेको मैं चला, तुम्हारा ध्यान किया, तुम्हारा वर्णन किया, यह दोष है। तब क्या करें ? तब संसारमें भी मत चलो, संसारको भी मत सोचो, संसारका वर्णन भी मत करो। यदि यह नहीं कर सकते तो झूठमूठ ही ईश्वरके लिए चलो, ईश्वरके सम्बन्धमें सोचो, ईश्वरके विषयमें बोलो। तुम्हारा यह प्रयत्न भले झूठा हो, उससे ईश्वर प्रसन्न होगा; क्योंकि वह जानता है कि तुम यह सब उसकी प्राप्तिके लिए कर रहे हो।

'त तद् भासयते सूर्यो' सूर्य नेत्रके द्वारा उसे प्रकाशित नहीं कर सकता, इतनी ही बात नहीं है। स्वयं सूर्य परमात्माके स्वरूप-में परमाणुके बराबर भी नहीं है। एक जुगनू किसी कमरेमें हो तो गणितज्ञ गणित करके बता सकता है कि वह कमरेके कौन-से भागमें है; किन्तु परमात्मा अनन्त है, उसके कौन-से भागमें सूर्यकी गणना आ सकती है ?

पुराणोंमें विराट् पुरुषके चिन्तनके लिए बताया गया है कि ब्रह्माण्डसे दसगुना बड़ा पृथिवीमण्डल है, पृथिवी से दसगुना बड़ा जलमण्डल है, उससे दस गुना बड़ा अग्निका मण्डल है, अग्निसे दसगुना बड़ा वायुमण्डल है, वायुसे दसगुना बड़ा आकाश-मण्डल है। अनन्त आकाशमें पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे, यह सब मनःकल्पित है। हमारे मनमें यह सारी सृष्टि है, उस चित्ताकाशमें सूर्य उसका कौन-सा भाग ठहरेगा और फिर चिदा-काशमें सूर्यकी गणना कहाँ आयेगी ? श्रुति कहती है—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥'

मैंने देखा है कि मेरे पितामहके सामने मेरे पिता कैसी मर्यादामें रहते थे। वे उनके बराबर नहीं बैठते थे। नीचे बैठते थे। किसीसे कुछ बात करनी होती तो अलग ले जाकर बात करते, जिससे पिताजीको विक्षेप न हो। सोने-जागने, उठने-बैठने, हँसने-बोलने, सबमें शील-संकोच-संयम रखते थे। यह मर्यादा है। ये सूर्य, चन्द्र, तारे, वायु, अग्नि सब नियममें हैं। सब संयमसे, ठीक नियमसे काम करते हैं। ये किसके भयसे, किसके संकोचसे ऐसा नियम-पालन करते हैं?

'यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।'

उस परमात्माके भयसे वायु चलता है। उसीके भयसे सूर्य सबको प्रकाश और उष्णता देता है।

उस अव्यय पदको सूर्य, चन्द्र या अग्नि प्रकाशित नहीं करते; क्योंकि उस परम प्रकाशमें सूर्यके प्रकाशका पता ही नहीं लगता। जैसे सूर्यके प्रकाशमें तारे और जुगनूका पता नहीं लगता, वैसे ही परमात्माके तेजमें सूर्यका भान ही नहीं होता। 'न तद् भासयते' वहाँ सूर्यकी प्रतीति हो नहीं है।

'जिन आँखिन में वह रूप बस्यो,
उन आँखिनसों अब देखिये का।'

जिन नेत्रोंमें उस नन्दनन्दन श्यामसुन्दर मनमोहनका रूप वस गया, उन नेत्रोंको और कुछ नहीं दीखता। उनमें सूर्य-चन्द्र, तारे, अग्निका तेज फीका लगता है। गीतामें ही जव अर्जुनको भगवान्ने अपना विराट् रूप दिखाया तो उस रूपका प्रकाश कैसा था ?

'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥'

आकाशमें यदि सहस्र-सहस्र सूर्य एक साथ उदय हो जायँ, तो भी उनका तेज क्या उस विराट् स्वरूप भगवान्के तेजके समान हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता।

सूर्यके प्रकाशमें नेत्र देखते हैं; किन्तु यदि शरीरमें प्राण न हो, शरीरके भीतर जो आत्मज्योति है, वह न हो तो क्या नेत्र देख सकेंगे ? वह ज्योति हो, प्राण हो, तब सूर्यके प्रकाशमें नेत्र देख पाते हैं। नेत्र जीवात्माके उपकरण हैं। विराट्का नेत्र सूर्य है।

नेत्र बन्द करनेपर जो मनमें दृश्य दीखते हैं, वह किससे दीखते हैं ? वे बुद्धिरूपी नेत्रसे दीखते हैं। यह बुद्धिरूपी नेत्र वासुदेवके प्रकाशमें देखते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये विषय अधिभूत हैं। इनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ नेत्र, रसना, नासिका, श्रोत्र और त्वचा अध्यात्म हैं और जिनके प्रकाशमें ये इन्द्रियाँ काम करती हैं वे सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, दिक्, वायु आदि अधिदैव हैं। वाह्यकरण ये नेत्रादि हैं और अन्तःकरण मन, बुद्धि आदि हैं। अन्तःकरणके अधिदैव रुद्र, चन्द्रादि हैं। सब विषय-समष्टि, सब अध्यात्म-समष्टि, सब अधिदैव-समष्टि जहाँ पृथक्-पृथक् न रहकर एक हो जाते हैं, वह

परमात्म सत्ता है। जहाँ रूप, नेत्र और सूर्यका भेद नहीं, शब्द; श्रोत्र और दिक्का भेद नहीं। इन समस्त भेदोंमें स्थित, इनसे परे रहकर जो इनका प्रकाशक है, वह 'तद्धाम परमं मम।'

धर्मानुष्ठानसे, भगवत्कृपासे अथवा गुरुकृपासे ज्ञानकी योग्यता आती है, तब महावाक्यसे ज्ञान होकर अज्ञानका पर्दा फट जाता है, तब अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्मकी त्रिविध सत्ताका भेदभ्रम मिट जाता है। तब सत्, चित्, आनन्दकी पृथक्ता नहीं रह जाती। उनका एकत्व हो जाता है।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।'

जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और जिसमें स्थित हैं। जिसमें लीन हो जायँगे, वह परमात्मा है। ये सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि आदि उससे उत्पन्न हुए और इनके मर जानेपर भी वह रहेगा। उसीको जानना है। जबतक उसे नहीं जानोगे, भटकते रहोगे।

'न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्' न तो पृथक्-पृथक् इन्द्रियोंसे ही वह परमात्मा दीखता है और न साक्षीसे। प्रत्यक् तत्त्वके रूपमें जो परमात्मा है, उसे आँखसे नहीं देखा जासकता। यह दूसरी बात है कि अनुग्रहविग्रह धारण करके जब वह श्रीराम, श्रीकृष्ण, नारायण, शिव आदि रूपमें प्रकट होता है, तब भक्त उसका दर्शन करते हैं, किन्तु उसके प्रत्यक् स्वरूपका दर्शन नेत्रसे नहीं होता।

'न तद् भासयते सूर्यः' हम अपने नेत्रसे तो उस परमात्माको देख नहीं पाते हैं, स्वयं ईश्वर भी अपनेको पूरा नहीं देख पाता; क्योंकि सूर्य विराट्रूप परमात्माका नेत्र है। लेकिन

इस अपने नेत्रसे भी परमात्मा अपनेको पूरा नहीं देख सकता। आप जैसे जानते हैं कि आपकी लम्बाई क्या है ? आपके शरीरका घेरा कितना है, आपका वजन कितना है, आपकी आयु कितनी है, वैसे ही क्या परमात्मा अपनी लम्बाई, अपना घेरा, अपना वजन, अपनी आयु जान सकता है ? वह इसे नहीं जान सकता। तब क्या परमात्मा अज्ञानी है ? परमात्मा अज्ञानी भी नहीं है। जब आदि-अन्त हो तो उसका पता लगे। जब सीमित वस्तु हो तो घेरा और वजन जाना जाय। जब जन्म हो तो आयुका पता लगे। परमात्मामें आदि–अन्त, दिक्, काल है ही नहीं। अतः इनका न जानना अज्ञान नहीं है।

सूर्य विराट्का नेत्र है। हिरण्यगर्भ मनसे देखता है और ईश्वरके सम्बन्धमें कहा गया है—

'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु करम करै बिधि नाना॥

आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥

तन बिनु परस नयन बिनु देखा।
गहै घ्रान बिनु बास असेसा॥

अस सब भाँति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

ईश्वरमें कोई इन्द्रिय नहीं है; किन्तु वह सर्वप्रेरक, सर्वसंचालक, सर्वान्तर्यामी है।

अब एक शंका की जा सकती है कि 'न पावकः' क्यों कहा गया है ? वाणीके देवता अग्नि हैं। भले सामान्य वाणीकी गति परमात्मामें न हो; किन्तु देववाणीकी गति तो है और वेदवाणी भी वाणी तो है ही। लेकिन वेदवाणीकी गति भी उसमें नहीं है। 'परमात्मा ऐसा है' इस प्रकार श्रुति भी वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है। परमात्माका वर्णन श्रुति 'नेति नेति' करके निषेध मुखसे करती है। परमात्मासे भिन्न जो कुछ है, उसका निषेध करती है। सबका निषेध करनेपर जो रहता है—अर्थात् तुम, वही ब्रह्म है। इस प्रकार लक्षित कराती है।

'तद्धाम परमं मम' भगवान्का वह परम धाम है, जहाँ न सूर्य प्रकाश देता, न चन्द्रमा और न अग्नि। प्रकाश तो चाहिए। दिनमें सूर्यका प्रकाश होता है। रात्रिमें चन्द्रमाका प्रकाश न हो तो अग्निका प्रकाश, मशाल, लालटेन आदिके रूपमें कर लेते हैं। जहाँ यह कोई प्रकाश न हो, वहाँ वाणीका प्रकाश काम देता है। आहट लेकर, दूसरेके शब्द सुनकर चलते हैं। भगवान्के धाममें वाणीका, इन्द्रियोंका भी प्रकाश नहीं है। वहाँ सब काम बिना देखे हो रहा है। वहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं अर्थात् सोचना नहीं और अग्निका प्रकाश नहीं अर्थात् बोलना नहीं। ऐसे स्थानमें कोई रागवान् क्यों जायगा ? न कुछ देख सके, न किसीसे बोल सके और सोचनेपर भी प्रतिबन्ध ऐसा स्थान उसे क्यों रुचेगा ?

सूर्य, चन्द्र, अग्नि नहीं हैं तो क्या वहाँ घुप् अन्धकार है ? नहीं। वहाँ परमात्माका ही प्रकाश है। अब कोई कहे 'तत्र ठीक है, एक बार जाकर देख आते हैं। अपने अनुकूल होगा तो रहेंगे,

अन्यथा लौट आयँगे।' लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है। भगवान् कहते हैं—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' एक बार वहाँ चले गये तो मैं लौटने नहीं दूँगा।' संसार और परमार्थ दोनों नहीं चलते। यहाँ रहो या वहाँ—दो में से एक ही रह सकेगा।

वहाँ देखना नहीं, बोलना नहीं, सोचना नहीं तब क्या वहाँ सब अन्धे, गूँगे और जड़ ही रहते हैं? सच बात है, वहाँ संसारी रूपकी ओरसे जो अन्धे बन गये हैं, संसारके वर्णनमें जो गूँगे हो गये हैं, संसार-चिन्तनके लिए जो जड़ बने हैं, वे ही जाते हैं। विषयीका वहाँ प्रवेश नहीं है।

'तद्धाम परमं मम' वह 'परम' धाम है। 'परम'का तात्पर्य प्रकृतिसे परे। वह धाम है अर्थात् सत्ताप्रधान प्रकाशमय है।

वैष्णव कहते हैं कि 'न तद्भासयते सूर्यो, न शशाङ्को न पावकः। यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम' यहाँ तक ब्रह्मका वर्णन है; किन्तु वह ब्रह्म भगवान् नन्दनन्दन श्यामसुन्दरका धाम है। 'तद्धाम परमं मम' इसीलिए कहा गया है।

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि उस परमधामको प्रकाशित नहीं करते। लेकिन इनमें उसीका तेज है। उसीके तेजसे ये तेजस्वी हैं। यह बात आगे 'यदादित्यगतं तेजो.....' श्लोकमें कही जायगी।

हमारी जन्मभूमिसे लगभग चौदह मील दूर मोकलपुर ग्राममें एक सन्त रहते थे। हम लोग उन्हें मोकलपुरके बाबा कहते थे। उनकी आयु नब्बे वर्षके लगभग रही होगी। चालीस-पैंतालीस वर्षसे वे वहाँ थे। कहते हैं कि गंगाजीने उन्हें भूमि दी थी। जैसे

नर्मदाकी दो धाराओंके मध्यमें मान्धाता टापू है, वैसे ही गंगाजीकी दो धाराएँ वहाँ उन महात्माके आनेपर हो गयी थीं और उसमें एक ग्राम बसने योग्य भूमि निकल आयी थी ?

हम लोग चौदह मीलसे उनके दर्शन करने जाते थे। वे कभी कुछ उपदेश करते, कभी नहीं भी करते थे। लेकिन सत्संगके लिए इतनी दूर जाना-आना, भोजन भी कभी फल ही मिलता, कभी वह भी नहीं, यह सब तपस्या थी और सन्तके विषयमें ही चिन्तन आते-जाते होता, अतः वह सत्संग ही था।

वे अनेक बार गाली देते थे। मैंने उनसे एक बार पूछा कि 'आप गाली क्यों देते हैं ?' उस समय तो वे अप्रसन्न हुए, किन्तु पीछे बोले—'तुम्हें जब मेरी गाली ही सहन नहीं होगी, तब संसारमें जो तुमको अपमान मिलेगा, उसे कैसे सह सकोगे ?'

उन महात्माके पास एक सज्जन आये और बोले—'मुझे ईश्वरका दर्शन करा दो! जब तक मुझे ईश्वरका दर्शन नहीं होगा, मैं न यहाँसे जाऊँगा और न कुछ खाऊँ-पीऊँगा, बाबाने उनकी बात जैसे सुनी ही नहीं। अपने दूसरे काममें लग गये। वे सज्जन वहीं अड़कर बैठ गये।

उन सज्जनको अन्न-जल छोड़े दो दिन बीत गये। बाबाने दो दिन तक तो उनकी ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। तीसरे दिन डण्डा उठाया और गाली देते हुए उन्हें एक डण्डा जड़ दिया और बोले—'तुझे ईश्वर दर्शन दे रहा है, उसे क्यों नहीं देखता ? स्वयं ईश्वरने ही तो कहा है कि वह सूर्य है, वह चन्द्रमा है, अग्नि है, वह पीपलका पेड़ है और वह वायु है।'

'ज्योतिषां रविरंशुमान्' 'नक्षत्राणामहं शशी' 'वसूनां पावकश्चास्मि' 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां' 'पवनः पवतामस्मि' गीताके दसवें अध्यायमें ईश्वरने ही तो यह कहा है। इतने रूपोंमें जो ईश्वर तेरे सामने आया, उसका तूने कितना सत्कार किया ? क्या निहाल किया उसे अपनी श्रद्धा और पूजासे कि अब एक और नये रूपमें उसे देखना चाहता है ?

महात्माका डण्डा लगते ही वह व्यक्ति तो कृतार्थ हो गया। उसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि ईश्वर दीखने लगे। लेकिन क्या हमने भी कभी सोचा है कि सूर्य परमात्मा है, चन्द्रमा परमात्मा है, अग्नि परमात्मा है, अश्वत्थ परमात्मा है ? इनको देखकर क्या कभी हमारे मनमें भी इनके प्रति श्रद्धा आती है ?

ईश्वरके धामको सूर्य, चन्द्र, अग्नि प्रकाशित नहीं करते। ईश्वरके दर्शनमें नेत्र, वाणी या मनकी आवश्यकता नहीं है। महात्मा सूरदासजी अन्धे थे। मार्गमें जा रहे थे। मार्ग भयानक था और वे अकेले थे। श्यामसुन्दर प्रकट हो गये और मार्ग दिखानेके लिए उन्होंने सूरदासका हाथ पकड़ लिया। सूरदासने भी हाथ पकड़ लिया उन श्रीकृष्णचन्द्रका। लेकिन लीलामय हाथ छुड़ाकर भाग खड़े हुए। उस समय सूरदासने कहा—

'हस्तमुत्क्षिप्य यातोसि बलात् कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥'

'हाथ छुड़ाये जात हौ, निबल जानिकै मोंहि।
हिरदै ते जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोंहि॥'

'हाथ छुड़ाकर भाग गये तो इसमें क्या बड़ी बात हुई ? हृदय-से चले जा सको तब समझें कि तुममें कुछ शक्ति है।' यह भक्तकी ललकार है, अन्धे भक्तकी ललकार। उसे अपने प्राणप्रियको पहचाननेके लिए नेत्रकी आवश्यकता नहीं थी।

सूर्यमें प्रकाश कहाँसे आता है ? परमात्मासे। नेत्रमें भी उसीका प्रकाश है। 'यदादित्यगतं तेजो' चन्द्रमामें जो प्रकाश है और मनमें जो प्रकाश है, वह भी उसीका प्रकाश है 'यच्चन्द्रमसि'। और अग्निमें तथा वाणीमें जो प्रकाश है, वह भी उसीका प्रकाश है 'यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।'

सूर्यके प्रकाशमें ही नेत्र देखते हैं, यह बात जितनी स्पष्ट है, उतनी स्पष्ट चन्द्रमाके प्रकाशमें मनकी गति नहीं है। अतएव इसे समझ लेना चाहिए। सूर्य तेजोमण्डल है और चन्द्रमा अपोमण्डल रसमय है। चन्द्रमाकी किरणोंसे जो रस पृथिवीको मिलता है, उसीसे फल तथा गेहूँ चावल आदि औषधियाँ पुष्टहोती हैं। चन्द्रमा न हो तो वृक्ष, लता, अन्नादि सूख जायँगे और भोजनके लिए अन्न या फल न मिले तो मन सूख जायगा। मनकी गति अन्नपर निर्भर है। इस प्रकार चन्द्रमासे मनको गति—प्रकाश मिलता है। इसी-लिए श्रुतिने कहा—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।'

सूर्य बुद्धितत्त्व प्रधान है और चन्द्रमा मन प्रधान। पुरुषमें बुद्धितत्त्व विशेष होता है, इसलिए पुरुषकी उपासना गायत्रीके द्वारा सूर्यकी है। स्त्रीमें रागात्मिका वृत्ति—चन्द्रतत्त्व प्रधान होता है, इसलिए स्त्रीकी उपासनामें चन्द्रमाकी पूजा मुख्य है।

श्रुति कहती है कि वह परमात्मा मनका भी मन है। नेत्रका भी नेत्र है। यह जो जगत् दीख रहा है, यह स्फुरणरूप तो परमात्माका ही है; किन्तु इसमें अपनी वासनाका बीज मिल गया है। स्फुरण तो ईश्वरका प्रकाश है। वासना दूर करके नेत्रसे देखो। वासना दूर करके मनसे सोचो ?

जैसे सूर्यकी शक्ति नेत्रमें है, चन्द्रमाकी शक्ति मनमें है, वैसे ही वाणीमें अग्निकी शक्ति है। शरीर ठण्डा हो जाता है, चाहे प्राण गये न हों, केवल बरफमें दबा दिया हो देहको, तब भी बोला नहीं जायगा। फिर परमात्माकी बात तो यह करेगी ही क्या ? यह वाणी मूक हो जाती है परमात्माको प्राप्त करके। जब अपना प्रियतम मिल गया तो बोलना क्या ?

उपनिषद्में आख्यायिका आती है कि शिष्यने गुरुके समीप जाकर प्रार्थना की—'भगवन् ! ब्रह्मका वर्णन कीजिये !' गुरु कुछ नहीं बोले। शिष्यने फिर पूछा, गुरु चुप रहे। तीसरी बार शिष्यके पूछनेपर भी गुरु मौन बने रहे। श्रुति कहती है—'अवचनेनैव प्रोवाच।' गुरुने अपने मौनसे ही समझा दिया कि ब्रह्ममें वाणीकी गति नहीं है।

'जहाँ बोल तहँ अक्खर आवा।
जहँ न बोल तहँ मन न रहावा॥
बोल अबोल मध्य है जोई।
जस वो है तस लखै न कोई॥

'मति न लखै जेहि मति लखै' बुद्धिसे भी वह परे है। उसे जान लेनेसे क्या होगा—'यद् गत्वा न निवर्तन्ते' माननेसे हो

उसकी प्राप्ति हो जाती है और उसे पाकर फिर संसारमें लौटना नहीं पड़ता।

पुनरावृत्ति न होना—संसारमें जन्म-मरणके चक्रमें न पड़ना भगवान्‌की दृष्टिमें बहुत महत्त्वकी बात है और पुनर्जन्म होना बहुत दुःखद है। जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहनेवालोंकी भगवान्‌ने गीतामें निन्दा की है—

'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥'

संसारमें जन्म लेना कैसा है? दुःखालय—यह संसार दुःखालय है। जैसे पुस्तकालयमें पुस्तकें रहती हैं, देवालयमें देवमूर्ति होती है, वैसे यह संसार दुःखालय है। यहाँ दुःख ही रहता है और साथ ही अनित्य है। भगवान्‌को प्राप्त करके इस संसारमें जन्म न लेना महात्मा होनेका, परम संसिद्धि प्राप्त करनेका लक्षण है।

'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।'

जो भगवान्‌को नहीं प्राप्त कर लेते, वे इस मौतके मार्गमें संसारमें लौट आते हैं। यह मनुष्य-जन्म भगवत्कृपासे मिला था। इस मानव देहमें आकर गुरुकी शरण जा सकते थे, भगवान्‌का भजन कर सकते थे और भगवान्‌को प्राप्त करके जन्म-मरणसे छूट सकते थे; किन्तु यह सब कुछ किया नहीं, 'पुनर्मूषको भव' वाली गति हो गयी।

किसी वनमें कोई महात्मा रहते थे। एक दिन एक चूहा

उनके पास आया। महात्मा सर्वज्ञ थे, उन्होंने चूहेको दुःखी देखकर पूछा—'तुम क्यों व्याकुल हो ?'

चूहेने कहा—'मुझे बिल्ली खा लेना चाहती है।'

महात्माने आशीर्वाद दिया—'तुम बिल्ली बन जाओ।'

चूहा बिल्ली बन गया। कुछ दिन बाद वह फिर महात्माके पास दुःखी होकर आया और महात्माके पूछनेपर उसने बताया कि उसे कुत्ता तंग करता है। महात्माने उसे आशीर्वाद देकर कुत्ता बना दिया। कुत्ता होकर भी कुछ दिन बाद आया वह महात्माके पास। इस बार उसने बताया कि भेड़िया उसके पीछे लगा है। महात्माने उसे भेड़िया बना दिया। कुछ दिन बीते और वह फिर आया। अब उसे शेरसे भय लग रहा था। महात्माने उसे शेर बना दिया।

शेर बनते ही वह सोचने लगा—'इस महात्माने प्रसन्न होकर मुझे शेर बनाया है। किसी दिन यह अप्रसन्न होगा तो पता नहीं मेरी क्या गति करेगा। अतः इसको मैं खा डालूँ तो यह भय मिट जाय।' ऐसा सोचकर वह महात्माके ऊपर झपटा। महात्मा बोले—'तू फिरसे चूहा हो जा।' वह फिर चूहा हो गया।

इस दृष्टान्तका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने कृपा करके हमको तृणसे मनुष्य बनाया। पिताके वीर्यमें आनेसे पहिले हम अन्नमें ही तो थे। अब मनुष्य बनकर लोग कहते हैं—'हम ईश्वरको नहीं मानते। हम ईश्वरको खा लेंगे—ईश्वर-विश्वासको

मिटा देंगे।' तब वह परमात्मा फिर जन्म-मरणके चक्रमें भेज देता है।

'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥'

इसलिए मनुष्य शरीर पाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि पुनर्जन्म न लेना पड़े। उर्दूका एक शब्द है 'ख़ानाबदोश', कुछ जातियाँ ख़ानाबदोश होती हैं। उनका कहीं घर नहीं होता। उन जातियोंके लोग अपना तम्बू-डेरा गाड़ीपर, खच्चरोंपर लादे घूमते हैं। चाहे जहाँ टिक गये, बनाया-खाया, दो-चार दिन रुके और फिर चल पड़े। कुछ लोग घर होनेपर भी घरसे निकल पड़ते हैं और होटलोंमें, धर्मशालाओंमें टिकते-घूमते हैं। यह जीव भी ख़ाना-बदोश हो रहा है। यह संसार इसका असली घर नहीं है। इसलिए कभी पुरुष, कभी स्त्री, कभी पशु, कभी पक्षी आदि नाना शरीर-रूपी घरोंमें टिकता हुआ भटक रहा है। इसका असली घर परमात्मा है। उस परमात्माको पाकर लौटना नहीं पड़ता! 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।'

'न निवर्तन्ति'पर भी विचार कर लेना है। संसारमें कर्मके द्वारा जो कुछ वस्तु बनायी जाती है, वह धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है। कर्मसे प्राप्त गति कर्मका वेग समाप्त होनेपर समाप्त हो जायगी। कर्मके द्वारा जो लोक प्राप्त होगा, वहाँसे लौटना पड़ेगा। जैसे हम ऊपर पत्थर फेंकते हैं तो फेंकनेका वेग समाप्त होनेपर पत्थर लौट

आता है, वैसे ही जिस कर्म या पुण्यसे कोई लोक मिलेगा, उस पुण्यकी समाप्तिपर वहाँसे लौटना होगा—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'

अकेले कर्मसे तो लौटना पड़ता है; किन्तु कर्मसमन्वित उपासनासे ब्रह्मलोककी प्राप्ति कर लें तो? भगवान् कहते हैं—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।' ब्रह्मलोक तकके समस्त लोकोंसे लौटना पड़ता है। इसमें शास्त्र दो प्रकारके ब्रह्मलोक जानेवाले मानता है। एक क्रममुक्तिवाले लोग हैं। वे भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगे थे; कुछ वासना शेष रह गयी—कुछ भोगके संस्कार शेष रहे, वे ब्रह्मलोकमें रुक गये। प्रलयके समय ब्रह्मके साथ वे भी मुक्त हो जायँगे। दूसरे, जो पुण्यादिसे ब्रह्मलोक गये हैं, वे ब्रह्माकी मृत्युके समय कारण—प्रकृतिमें प्रलयके समय स्थित रहेंगे और सृष्टि होने लगेगी तो जन्म लेंगे। दूसरे प्रकारसे भी इस व्यवस्थाका वर्णन किया जा सकता है। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं। अतः जो एक ब्रह्माण्डमें स्थित ब्रह्मलोक तक जाते हैं, उनको अगली सृष्टिमें जन्म लेना पड़ता है। लेकिन जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी समष्टिके ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भके लोक तक जाते हैं, वे महाप्रलयके समय हिरण्यगर्भके साथ मुक्त हो जाते हैं।

यह जीव नित्य है, ज्ञानस्वरूप है और आनन्दस्वरूप है। अतः जहाँ नित्य जीवनकी प्राप्ति न हो, अनित्यता मिले, जहाँ पूर्ण ज्ञान न हो, अज्ञान मिले और जहाँ पूर्ण आनन्द न मिले, दुःख भी मिले, वहाँ यह सदा नहीं रह सकता। वहाँसे यह स्वयं ऊबकर लौट आयेगा। जीवके सहज स्वरूपके अनुकूल जो स्थिति नहीं होगी, वहाँ यह टिका नहीं रह सकता। इसका सहज स्वरूप है सच्चिदा-

नन्द—अस्ति, भाति, प्रिय। अतएव जबतक इसे सच्चिदानन्दकी प्राप्ति न हो, यह स्थान बदलता ही रहेगा।

स्वर्गमें, ब्रह्मलोकमें सुख है। मान लो कि जीव वहाँसे स्वयं नहीं लौटना चाहेगा; लेकिन कोई होटलमें ठहरा हो और उसके पास किराया देनेको पैसा न रह जाय तो होटलसे निकाल दिया जायगा। इसी प्रकार स्वर्ग या ब्रह्मलोकमें पुण्य क्षीण होनेपर जीव नहीं रह सकता। उसे वहाँसे निकाल दिया जायगा।

भक्ति करके गोलोक, साकेत, वैकुण्ठ या शिवलोककी भगवत्कृपासे प्राप्ति हुई। जीव स्वयं वहाँके आनन्दसे कभी विरक्त होकर लौटना नहीं चाहेगा। दयामय भगवान् उसे कभी निकालेंगे भी नहीं। लेकिन भगवान् करुणावरुणालय हैं। जीवोंका दुःख उनसे देखा नहीं जाता। अतः वे अवतार धारण करते हैं। उनके अवतारका हेतु उनकी करुणा ही है। शाण्डिल्य सूत्रमें आया है–'मुख्यं तु तस्य कारुण्यम्।' हम किसीके घर रहते हों, उसके आश्रित हों और पड़ोसीके घरमें आग लगनेपर वह स्वयं पानी लेकर दौड़े तो हमें भी दौड़ना ही पड़ेगा। जिन भगवान्‌ने कृपा करके अपना धाम प्रदान किया; वे स्वयं जब अवतार धारण करेंगे, तब उनके साथ अथवा उनकी आज्ञा होनेपर जीवोंके उद्धारके लिए अकेले भी संसारमें आना पड़ेगा। लेकिन क्या वह भगवद्धामसे पुण्य कर्म क्षीण होनेसे आयेगा? भक्तिकी कमीसे आयेगा? वहाँसे विरक्त होकर आयेगा? कर्मपरतन्त्र होकर आयेगा? नहीं, ऐसा कुछ नहीं। वह भगवत्संकल्पके वशवर्ती होकर आयेगा।

सायुज्यपर्यन्त मोक्ष भगवान्‌के संकल्पमें ही स्थित हैं। इनमें सालोक्यका अर्थ भगवान्‌के लोकमें जाकर रहना। सारूप्यका अर्थ है, भगवान्‌के समान रूपमें, वैसे ही वस्त्राभूषणोंमें रहना। सामीप्यका अर्थ है वस्त्र, आभूषण, पुष्पमाल्य आदि होकर भगवान्‌के श्रीअंगके समीप रहना। सार्ष्टिका अर्थ है कि किसी ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु या रुद्र हो जाना। सायुज्यका अर्थ है केशादि होकर भगवान्‌के श्रीअंगमें मिले रहना। ये मोक्ष भगवत्संकल्पसे प्राप्य हैं, अतः भगवत्संकल्पके द्वारा इनसे संसारमें लौटना भी होता है।

कैवल्यका अर्थ है अकेला—अद्वितीय। यह पञ्चविध भेदसे रहित वस्तुस्थिति है। भेद पाँच प्रकारसे होता है—१. जीव-जगत्‌का भेद २. जीव-जीवका भेद ३. जीव-ईश्वरका भेद ४. जगत्-जगत्‌का भेद और ५. जगत्-ईश्वरका भेद। इस प्रकार जहाँ जीव, जगत् एवं ईश्वरका भेद नहीं है, एक अद्वितीय अखण्ड सत्ता है, वहाँ गमनागमन सम्भव नहीं है। अतः श्रुति कहती है—'न स पुनरावर्तते।'

'तद्धाम परमं' परम कहनेका तात्पर्य है कि उससे परे और कुछ नहीं है। वही सबका प्रकाशक है। वह इतरप्रकाशनिरपेक्ष धाम अर्थात् अधिष्ठान है।

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते' वहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता। इसलिए नहीं लौटना पड़ता कि वह धाम अर्थात् अपना घर है। यहाँ प्रश्न है कि 'गत्वा' जाना वहाँ कहा गया है, तब लौटना क्यों नहीं होगा? जहाँ जानेका मार्ग हो, वहाँसे लौटनेका मार्ग भी होगा ही।

इसका उत्तर है कि प्राप्ति दो प्रकारकी होती है। एक अप्राप्तकी प्राप्ति और दूसरी प्राप्तकी प्राप्ति। यहाँ 'गत्वा' का अर्थ 'ज्ञात्वा' अर्थात् प्राप्तकी प्राप्ति ही है।

हम जो संसारके विषयोंको देखते-पाते हैं, यह जाकर पाना है। जैसे फूल देखना हो तो नेत्रवृत्तिमें होकर हम फूल तक जाते हैं। लेकिन निद्रा आगयी तो हम अपनेमें—हृदयमें लौट आये। वैसे यह हृदय भी अपना नहीं है। यह भी किरायेका मकान है। जैसे मजदूरको रहनेके लिए कोठरी मिलती है, वैसे ही अपने कर्मोंका भोग पूरा करने तकके लिए यह देहके भीतर कोठरी मिली है। यह कानमें आकर स्वर सुनना संगीतशालामें बैठना है। नेत्रमें आकर देखना सिनेमाघरमें बैठना और रसना तो भोजनशाला है ही। लेकिन अपने सोनेका घर हृदय है। अपने सोनेके घरमें गये तो ये सब छूट गये। स्त्री-पुत्र सब छूट जाते हैं निद्राके समय। लेकिन हृदय भी किरायेकी कोठरी ठहरी। अपना वास्तविक घर तो परमात्मा है। वहाँ पहुँच गये तो फिर इन कर्मशालाओंमें आनेकी आवश्यकता नहीं रहती। वह ही परिपूर्ण है। वहाँ कोई अभाव नहीं है।

अप्राप्तकी प्राप्तिके लिए जाना पड़ता है; किन्तु नित्यप्राप्तमें ही अप्राप्तिका भ्रम हो गया हो तो उसे जानना पड़ता है। एक व्यक्ति भाँग पीकर अपने पुत्रको कन्धेपर बिठाकर घरसे निकला और नशेमें उसे भूल गया। पूछने लगा कि मेरा लड़का कहाँ है ? लोग समझते थे कि एक लड़का जो कन्धेपर है, उसे लेकर यह दूसरा लड़का ढूँढ़ने निकला है। उसने पुलिसमें रिपोर्ट लिखायी। हल्ला मचा। अन्तमें थककर जब घर लौटा तो कन्धेपर बैठे बच्चेका सिर

दरवाजेकी चौखटसे टकरा गया। बच्चा रो पड़ा। अब पता लगा उसे कि बच्चा तो उसके कन्धे पर ही बैठा-बैठा सो रहा था।

इसी प्रकार एक वृद्ध पुरुष कुछ ढूँढ़ रहे थे। उनके लड़केने पूछा—'आप क्या ढूँढ़ रहे हैं ?' वे बोले—'वही, जिससे लिखता हूँ।' पुत्रने कहा—'एक पेन्सिल तो आपके कानपर है।' अब कहीं उन्हें पेन्सिल मिली। परमात्मा भी इसी प्रकार नित्यप्राप्त है; किन्तु भ्रान्तिके कारण हम उसे अप्राप्त मान रहे हैं। ईश्वर तथा गुरुकी कृपासे महावाक्य द्वारा इस भ्रान्तिका निवारण हो जाता है, तब वह साक्षात् अपरोक्ष होता है।

वैष्णवाचार्य 'धाम'का अर्थ दूसरे ढंगसे करते हैं। लेकिन यहाँ यह बात भी है कि तप, आराधनादिसे प्राप्त होनेवाला धाम दूसरा है। 'परमं धाम' कहनेका तात्पर्य ही है कि भगवान्का कोई अपर धाम भी है। यह अपर धाम वही है जो आराधना, तप आदिसे मिलता है। इस धामसे संसारमें लौटना भी हो सकता है। जय-विजय जिस धामसे सनकादिके शापसे दैत्य होकर संसारमें आये, यह अपर धाम है। उसे 'रमा वैकुण्ठ' कहते हैं। यह नित्य-धाम नहीं है। भगवान्का जब अजित नामका अवतार हुआ था, तब लक्ष्मीके आग्रहके कारण इस धामका निर्माण भगवान्ने किया।

वैष्णवाचार्य कहते हैं कि धामका अर्थ रहनेका स्थान है, जैसे चार धाम—जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारिका और बदरीनाथ हैं। इस पन्द्रहवें अध्यायमें जो अक्षर पुरुषका वर्णन है, वह ब्रह्मका वर्णन है और वह भगवद्धाम है। 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' आदि वाक्योंसे इसका समर्थन वे आचार्यगण करते हैं। इस धामके

धामी—निवासी पुरुषोत्तम आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं हैं। 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' वे आनन्दघन हैं। जैसे पृथिवीका यह अधिभूत मण्डल है। इस पृथिवीकी अधिदेवता वह है जो गौ रूपसे ब्रह्मासे प्रार्थना करने गयी और पृथिवीका एक रूप वह जो वैकुण्ठमें श्री नारायणके साथ भूदेवी हैं। ऐसे ही महाराज दशरथके यज्ञकुण्डमें प्रज्वलित अग्नि एक और उस अग्निसे प्रकट अग्निदेव जिन्होंने पायस दिया, वे अग्निके अधिष्ठातृ देवता। इसी प्रकार ब्रह्म भगवद्धाम है और उसके अधिदेवता नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर हैं।

उपासना ग्रन्थोंमें—ब्रह्मसंहिता, सनत्कुमारसंहिता आदि पाञ्चरात्रागमके ग्रन्थोंमें जो उपासनाकी विधि वर्णित है, उसमें पहिले चिन्मय भगवद्धामके चिन्तन करनेकी विधि है। उस धाममें प्राकृत नाम-रूप-गुणका लेश भी नहीं है। वहाँके सब पशु कामधेनु हैं, सब लता-वृक्ष कल्पतरु हैं और एक-एककण चिन्तामणि है। उस चिन्मात्र धाममें कल्पवृक्षके नीचे चिन्तामणिकी वेदिकापर आनन्दकन्द, नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ललित त्रिभंगीसे खड़े, वंशी बजा रहे हैं—इस प्रकारके ध्यानका वर्णन है।

रसिकाचार्य कहते हैं कि भगवद्धाम ब्रह्म है। वहाँकी अधिभूत सत्ता अर्थात् सद्घन ब्रह्म, अधिदैव आनन्दघन श्रीराधाकृष्णचन्द्र और अध्यात्म चिद्घन भक्त हैं।

अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि जब सत्ता अधिभूत, अन्य—जड़ होती है, करणोंके द्वारा ज्ञाता जीव अध्यात्म होता है, तब अधिदैवकी आवश्यकता होती है। जब सत्ता चेतन है, तब उसमें दूसरे

चेतन अधिदेवताकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः जो सर्वाधिष्ठान सर्वावभासक चिन्मात्र सत्ता है, वही पुरुषोत्तम है।

इन दोनों बातोंमें सच बात कौन-सी है? कोई बात तथ्य होने मात्रसे सच नहीं हो जाया करती।

'न तत्त्ववचनं सत्यं नातत्त्ववचनं मृषा।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥'

न द्वैतका आग्रह ठीक है, न अद्वैतका। द्वैतवादी या अद्वैतवादी मत बनना। अद्वैत वस्तु है, वाद नहीं। द्वैत कहो तो द्वैत है ही नहीं, अद्वैत कहो तो कहते क्या हो? ये द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों प्रक्रिया हैं। अतः इनमें-से जिसके अनुसार साधन-भजन अथवा विवेक-वैराग्य अपनाकर तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होता हो, उसे मानो। यदि आग्रह करके झगड़ा करोगे तो राग-द्वेष होगा और दुःखज्वालामें दग्ध होना पड़ेगा।



• *संगति*

यदि लोगोंको बता दिया जाय कि किसीका बन्धन नहीं है। किसीका जन्म-मरण नहीं होता , स्वर्ग-नरक कोई वस्तु नहीं, सब ब्रह्म है, नित्यमुक्त हैं तो इसका क्या परिणाम होगा ? परिणाम यह होगा कि धर्माचरण व्यर्थ हो जायगा। वेदान्तश्रवण व्यर्थ हो जायगा। लोग इन्द्रियोंके भोगोंके लोलुप-पामर बन जायँगे। स्वर्ग-नरक झूठा, किन्तु रुपया सच्चा, भोग सच्चे, यह विरोचनका ज्ञान है। यह आसुरी भाव है। अतः पहिले बन्धनको समझो। वह कौन है जो बन्धनमें है। उसको समझाना है।

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते'में जो उस धामको जायगा, उस जीवका स्वरूप अब भगवान् बतलाते हैं। 'तद्धाम परमं मम'से श्लोकका अन्त हुआ था और अगला श्लोक 'मम'से ही प्रारम्भ होता है।

७

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

लोक-लोकान्तरमें आने-जानेवाला जीव मेरा ही सनातन अंश है—दृश्य जड़का नहीं, अतः अंश-सा है। वह उपाधिके नाशसे नष्ट भी नहीं होता। वही प्राकृत मन-इन्द्रियोंको अपने साथ खींच ले जाता है।

'ममैवांशो, बड़ी ममतासे भगवान् कह रहे हैं कि यह जीव जो जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा है, जो स्वर्ग-नरक तथा चौरासी लक्ष योनियोंमें जाता है और जो 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते'का भी अधिकारी होता है, वह मेरा ही अंश है।

संसारमें जीव अनाथकी भाँति भटक रहे हैं। चाहे जो खा लेते हैं, चाहे जो पी लेते हैं, चाहे जो बोल देते हैं और चाहे जिससे प्रेम करके उसके पीछे लग जाते हैं। जैसे कीड़े सड़े देहको पसन्द करते हैं, वैसे ये अन्नको सड़ाकर खाते हैं, फलको सड़ाकर पीते हैं। यह शराब सड़ाँद ही तो है। इनकी दशा ऐसी है, जैसे इनका कोई स्वामी ही नहीं हो।

लेकिन जैसे बाप अपने पुत्रसे कहे कि तुम मेरे अंश हो, वैसे ही भगवान् कह रहे हैं कि तुम मेरे अंश हो। 'ममैवांशो' मेरे ही अंश हो। तुम पृथिवीके, जलके, अग्निके, वायुके, आकाशके, अहंकारके, महतत्त्वके या प्रकृतिके अंश नहीं हो। तुम जो अपनेको माता-पिता पति या अन्यका समझते हो, वह भी तुम्हारा भ्रम है। तुम्हें बचपनमें जब तुम समझदार नहीं थे, लोगोंने गलत समझा दिया। तुम दूसरे किसीके नहीं, मेरे ही अंश हो।

परमात्माका अंश जीव कैसे है? जैसे मिट्टीका अंश घड़ा होता है, उस प्रकार? अथवा समुद्रका अंश उससे निकाला एक लोटा पानी होता है, उस प्रकार? मिट्टीसे बाहर आकाश है, इसलिए उसमें घड़ेकी आकृति बनती है। समुद्रसे बाहर सूखी धरती है,

इसलिए समुद्रसे एक लोटा जल बाहर ला सकते हैं; किन्तु जो सर्वव्यापक है, उसमें ऐसा अंश सम्भव नहीं है।

परिच्छिन्न वस्तुका अंश एक प्रकारका होता है और अपरिच्छिन्न वस्तुका दूसरे प्रकारका। दिन, घण्टा, मिनट, सेकेण्ड-ये कालके अंश हैं। लेकिन ये अंश कैसे हैं? सूर्य और पृथिवीकी गतिके कारण दिन-रात होते हैं। अतः अनन्त कालमें सूर्य-पृथिवीकी उपाधिसे ये कल्पित अंश हैं। यदि सूर्य और पृथिवी न हों तो कालमें कोई अंश नहीं होगा। इसी प्रकार देशमें पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे-ये भेद शरीर तथा पृथिवीकी उपाधिसे हैं। व्यापक वस्तुमें विषयकी उपाधिसे होनेवाला परिणाम अंश होता है। परमात्मा देश, काल तथा वस्तु अपरिच्छिन्न है। अतः उसमें पृथिवीके डलेके समान अंश सम्भव नहीं है। अंशकी भाँति अंश अर्थात् व्यवहारके निर्वाहके लिए अंशकी कल्पनामात्र है।

पृथिवीके कण, जलकी लहर, अग्निकी चिनगारीके समान अंश परमात्मामें नहीं हो सकता। जैसे रुपयेमें अंश कल्पित है। पहिले रुपयेमें चौंसठ पैसे माने जाते थे, अब सौ नये पैसे माने जाते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि यह दाशमिक प्रणाली ठीक नहीं है। इससे सुगम आठ या बारहकी संख्या माननेकी है। यदि उनकी बात चलने लगे तो रुपयेमें फिर कितने पैसे होंगे, आज कैसे कहा जा सकता है? यह रुपयेमें अंशकी कल्पना है। इस प्रकार काल्पनिक अंश भी व्यवहारमें ही होता है।

सावयव पदार्थमें ही अंश हो सकता है। परमात्मा सावयव नहीं है। वह बहुत-से टुकड़ोंका जोड़—अनेकोंका योग नहीं है। वह

एक, अद्वितीय, अखण्ड, विभु है। अतः उसका अंश दूसरे प्रकारका है। जीव अविद्यासे परमात्माका अंश है अर्थात् परमात्माके पूर्ण स्वरूपके अज्ञानसे जीव जो अपनेको सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, अद्वितीय न जानकर परिच्छिन्न समझता है, वह अज्ञान ही उसका अंशपना है। अज्ञानके कारण ही उसने अपनेको अंश मान लिया है।

घटाकाश और महाकाशमें क्या भेद है ? घड़ेको एक बार बट्टे खातेमें डाल दो। घड़ा फोड़नेकी जरूरत नहीं है। घड़ेके रहते हुए भी घटाकाश महाकाश ही है। वस्तुतः सावयव, दृश्य तथा जड़में ही अंश होता है। अंश तो दृश्य ही होता है। निरवयव चेतन कभी दृश्य नहीं होता। वह अंशका भी प्रकाशक स्वयंप्रकाश होता है, उसमें वास्तव अंश होना सम्भव नहीं है। अविनाशी, पूर्ण, अद्वितीय, चेतन आत्मा ब्रह्ममें कल्पित रीतिसे ही अंशका अध्यारोप किया गया है तत्त्वज्ञानके द्वारा अपवाद करनेके लिए।

'जीवलोके' अर्थात् व्यवहारके क्षेत्रमें यह जीव परमात्माका अंश है। जड़ वस्तुसे—सूक्ष्म शरीरसे परिच्छिन्न अपनेको मानकर अविद्याके कारण वह अपनेको जीव मानता है। जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक आदिका व्यवहार इस अविद्यासे हो चल रहा है।

'जीवभूतः' अविद्याके कारण अपने सर्वाधिष्ठान सर्वावभासक नित्यमुक्त स्वरूपको न जानकर 'जीवलोके' मायाके व्यवहार क्षेत्रमें वह अपनेको मेरा अंश, परिच्छिन्न समझकर जीव हो गया है। जीव मान लिया है उसने अपनेको, परमार्थतः तो वह मेरा स्वरूप ही है!

'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।'

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।'

जैसे यहाँ अविद्यासे 'जीवभूत:' है, वैसे ही अपने स्वरूपकी उपलब्धि 'ब्रह्मभूत:' कहकर बतायी गयी है।

'सनातन:' जीवका जीवत्व जब सूक्ष्म शरीरकी या अविद्याकी उपाधिसे है, तब उपाधिके नाशसे उसका भी नाश हो जाता होगा, इस आशंकाको दूर करनेके लिए भगवान्‌ने कहा है कि वह सनातन अविनाशी है।

जब अविद्यासे अपनेको जीव मान लिया, तब अन्तःकरण तो अनादि है ही। उसमें कर्म-वासनाके अनादि संस्कार हैं। वासनाके संस्कार जागे तो इच्छा हुई। देखनेकी इच्छा हुई तो नेत्र, सुननेकी इच्छा हुई तो कर्ण, सूँघनेको इच्छा हुई तो नासिका, छूनेकी इच्छा हुई तो त्वचा और रस लेनेकी इच्छा हुई तो रसना, इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ बनीं। लेकिन ज्ञानेन्द्रियाँ तो पंगु हैं। अतः इन्हें विषयों तक पहुँचाने अथवा विषयको इन तक ले जानेके लिए कर्मेन्द्रियोंकी प्राप्ति हुई। कर्मेन्द्रियाँ अन्धी हैं। वे स्वयं किसी विषयको प्रकाशित नहीं करतीं। ये कर्मकार—मजदूर हैं। इसीको 'अन्धपंगुन्याय' कहते हैं। अन्धी कर्मेन्द्रियोंके कन्धेपर पंगु ज्ञानेन्द्रियाँ बैठकर विषयोपलब्धि करती हैं।

मन इन इन्द्रियोंसे पृथक् है। इन्द्रियाँ मन नहीं और मन इन्द्रियाँ नहीं। जीव इन मन और इन्द्रिय दोनोंसे पृथक् है। नेत्र सुन नहीं सकते और कर्ण देख नहीं सकते। एक इन्द्रियका काम दूसरीसे नहीं होता। लेकिन जीव मनके द्वारा स्वप्नमें तथा

संकल्पमें रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—सभी विषयोंका अनुभव करता है। सुषुप्तिमें मन भी नहीं रहता। जीवात्मा अपने आनन्द स्वरूपमें ही स्थित रहता है।

'प्रकृतिस्थानि कर्षति' मन तथा इन्द्रिय प्राकृत हैं और जीव परमात्माका अंश है। इस प्रकृति-पुरुषके योगसे ही सृष्टि-व्यापार चल रहा है। प्रकृतिका अर्थ स्वभाव—अपने स्वभावके अनुसार-वासनाके अनुसार मन-इन्द्रियोंको जीव खींच ले जाता है। जैसे किसीकी मांस खानेकी इच्छा है तो वह मरनेके बाद मांसाहारी भारी जबड़ेके पशु शेर, भेड़िया, कुत्ता अथवा मांसाहारी पक्षी गीध आदिके शरीरमें जन्म लेगा। जैसे चुम्बकका जो आकार होता है, उसके चारों ओर लोहे के कण डाल दें तो वे चुम्बकसे चिपककर उसके आकारके समान ही बड़ा आकार बना देंगे, वैसे ही अपनी वासनाके अनुसार ही स्थूल शरीर जीव पाता है।

इस देशमें भोक्ता जीव इन्द्र है। वह वृत्तिरूपी कल्पनाके द्वारा भोग्य विषयोंसे युक्त होता है। इन्द्रके भोगका उपकरण अथवा जो चिह्न हैं, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। जीव तथा मनकी इच्छा पूर्ण करनेके साधनोंका नाम इन्द्रिय है।

पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि—ये सत्रह सूक्ष्म शरीर बनाते हैं। इन सत्रह तत्त्वोंसे बने सूक्ष्म शरीरको प्रकृतिमें जीव खींचता है अर्थात् अहंकार स्थापित करके नाना प्राकृत देहोंसे सम्बन्ध बनाया करता है।



● *संगति*

निद्रामें तो जीव मन-इन्द्रियोंको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, तब उसे मोक्ष नहीं प्राप्त होता ? मोक्षकी प्राप्ति तब इसलिए नहीं होती कि उस समय भी वासनाके संस्कार उसमें सुप्त रहते हैं। जैसे रस्सीमें बँधा घड़ा कुएँके जलमें डूबकर भी निकल आता है, वैसे ही संस्कार-बद्ध जीव सुषुप्तिसे जाग्रत्में आ जाता है। प्राकृतस्थूल शरीर छूटनेसे अर्थात् मृत्युसे भी मोक्ष नहीं होता और प्रलय होनेपर भी मोक्ष नहीं होता। मोक्ष तो ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर ही होता है। इस बातका प्रतिपादन करनेके लिए देहत्यागके बाद पुनर्जन्मकी प्राप्तिका वर्णन भगवान् करते हैं।

८

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयत् ॥

यह समर्थ जीव जो शरीर पाता है और जिसे छोड़ता है, उन सबमें इन मन-इन्द्रियोंको अपने साथ पकड़कर उसी प्रकार जाता है, जैसे वायु पुष्पादिसे गन्धको साथ ले जाता है।

'ईश्वरः' जीव मन-इन्द्रियोंको ले जानेमें समर्थ है इसलिए वह अपने भोगके उपकरण अपने साथ ले जाता है। 'हम अपने सपने साथ लिये फिरते हैं।' परमात्मा इन्द्रियोंको लेकर कहीं नहीं

जाता। परमात्मा तो सर्वत्र है। उसे कहीं न आना-जाना है और न भोगकी अपेक्षा है। जीवको विषयोंका भोग उपलब्ध करनेके लिए इन्द्रियोंकी आवश्यकता है। वह उन्हें साथ ले जानेमें समर्थ है, अतः अपने साथ ले जाता है। जैसे हमारे नेत्र दुर्बल हैं तो हम चश्मा साथ ले जाते हैं। जिनके नेत्र ठीक हैं, सबल हैं, उनको चश्मा रखनेकी ही कोई आवश्यकता नहीं है। जीव भी नेत्रेन्द्रियरूप चश्मा साथ ले जाता है।

अब जीवकी बात देख लें। चार्वाक शरीरके साथ जीवका जन्म-मरण मानते हैं। चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। ये जीवको सादि और सान्त मानते हैं। बौद्ध दर्शन दो प्रमाण–प्रत्यक्ष और अनुमान मानता है। इस मतके अनुसार जीव अनादि; किन्तु सान्त है। जबतक निर्वासन नहीं होता, तबतक जीवका जन्म-मरण होता है और वासना मिट जानेपर उसका निर्वाण—उच्छेद हो जाता है। जैन जीवको अनादि और अनन्त मानते हैं। वे प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन—ये तीन प्रमाण मानते हैं। मुक्तिमें भी जीवका वे उच्छेद नहीं मानते। अष्टादश दूषणरहित होकर जीव तीर्थङ्कर पदको प्राप्त करता है और उसका अलोकाकाशमें सिद्धशिलापर बैठकर ऊर्ध्व गमन होता है, यह उनकी मुक्तिका स्वरूप है। चार्वाक तथा बौद्धमतके चार दर्शन और जैन, ये कुल छः अवैदिक दर्शन हैं।

वैदिक दर्शनोंमें भी कोई जीवका अणुपरिमाण मानते हैं, कोई शरीरव्यापी और कोई विभु। पूर्वमीमांसक जीवको चिदचिद् रूप और कर्ता-भोक्ता मानते हैं। इस प्रकार मतवाद अनेक हैं; किन्तु

'जीव नहीं है' अर्थात् 'मैं नहीं हूँ' यह कोई नहीं कह सकता तब प्रश्न होता है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न ? चेतन है या जड़ ? जीवको जड़ कहनेका अर्थ होगा अपनेको ही जड़ कहना। यह कोई स्वीकार नहीं करेगा। जीव यदि चेतन है तो अलग-अलग है या एक है ?

जीव अलग-अलग हैं, यह आग्रह इसलिए है कि व्यक्तित्वका मोह छोड़ना सरल नहीं है। लेकिन जो सर्वव्यापक है, उस आकाशसे क्या घटाकाशको पृथक् किया जा सकता है ? जबतक मन तथा इन्द्रियोंसे भोग भोगनेकी इच्छा है, तबतक व्यक्तित्व रहेगा। भोगकी वासना ही व्यक्तित्वका हेतु है।

'मल विक्षेप जाके नहीं किन्तु एक अज्ञान।
द्वै चव साधनसहित नर सो अधिकृत मतिमान॥

जब भोगकी वासना न हो, चित्तमें चाञ्चल्य न हो, साधन चतुष्टय प्राप्त हो और अपने स्वरूपको न जाननेकी व्यथा हो, उसे जाननेकी उत्कण्ठा हो, तब बुद्धिमान् व्यक्ति अद्वैत ज्ञानका अधिकारी होता है।

इन्द्रियोंसे भोग चाहना, मनसे विषयोंके चिन्तनमें रस लेना, जबतक बना है, तबतक व्यक्तित्वका त्याग नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें जो कर्मसे भोग चाहते हैं, वे सब धर्म-सम्प्रदाय व्यक्तित्वको बनाये रखकर विषयमें विशेषता उत्पन्न करते हैं। संसारके भोग अल्पकालिक हैं, अतः धर्माचरण करके स्वर्गके भोग प्राप्त करनेकी वे व्यवस्था करते हैं। उपासक ब्रह्मलोककी

प्राप्तिकी आकांक्षा करते हैं। जिन्हें विषयसुख नहीं चाहिए, वे आत्मसुखके लिए योग करते और समाधिमें स्थित होते हैं। भक्त आत्मसुख भी नहीं चाहते, वे परमात्मसुखकी अभिलाषा करते हैं। विषयसुख, स्वर्गसुख, ब्रह्मलोक सुख, आत्मसुख और परमात्मसुख— ये सब व्यक्तित्वको बनाये रखकर ही चाहते हैं। उसके आगेकी बात है—

'नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चरन्निश्चलच्चित्तमेकीकुर्यात् प्रयत्नतः॥'

सायुज्यकी भी इच्छा न करे। अकेले 'त्वं' पदार्थका सुख न चाहे और अकेले 'तत्' पदार्थका सुख भी न चाहे। 'त्वं' तथा 'तत्'के एकात्मबोधसे निःसंग हो जाय।

जबतक निःसंग नहीं हो जाता, तबतक जीव और प्रकृतिके संगसे यह संसारचक्र चल रहा है। सुषुप्ति, मृत्यु या प्रलयसे जन्म-मरणकी निवृत्ति नहीं होती। एक देह त्यागता है और मन-इन्द्रियों-के साथ दूसरे देहके लिए प्रकृतिको आकर्षित्त कर लेता है।

भगवान्ने मूल श्लोकमें पहिले देह ग्रहण और फिर त्यागका जो क्रम बताया है, वैसा ही अर्थ क्यों न किया जाय। श्रीमद्भागवत-में यह वर्णन भी है कि तृणपर चलनेवाला कीड़ा एक तृणको पकड़कर जैसे दूसरेको छोड़ता है, वैसे ही जीव एक देहको छोड़नेसे पूर्व अपनी वासनाके अनुसार एक कल्पना-देह—भाव-देह बना लेता है और उस भाव-देहको ग्रहण करके तब स्थूल देहको त्याग देता है।

एक सेठजीकी मृत्युका समय आया। जब उनके डाक्टर-वैद्योंने बता दिया कि वे अब थोड़ी देर ही बचेंगे, तब उनके समीप

गीताका पाठ होने लगा। धूमधामसे भगवन्नामका संकीर्तन होने लगा। सबने यह प्रयत्न किया कि अब सेठजीको भगवान्‌की याद आये। किसीने जाकर धीरेसे पूछा—'सेठजी, भगवान्‌का स्मरण होता है या नहीं ?'

सेठजीने कहा—'मुझे तो कपड़ोंकी गाठें ही इस समय स्मरण आ रही हैं।'

जीवनभर सेठजीने कपड़ेका व्यापार किया था। सर्वदा मन कपड़ोंकी गाठोंमें लगा रहता था। अब मरते समय दूसरोंके कीर्तन या पाठसे मन भगवान्‌में लग जायगा, यह नहीं हुआ करता। इसका यह तात्पर्य नहीं कि पाठ-कीर्तनसे कुछ लाभ नहीं होता। उनसे लाभ होता है, पुण्य भी होता है; लेकिन मुख्य तो जीवनका अभ्यास ही है।

जीवनमें जो लोगोंको सताया है, चोरी की है, अनाचार किया है, दूसरेका धन छीना है, वे सब पाप मरते समय स्मरण आते हैं। पुण्यकी अपेक्षा पापके संस्कार प्रबल होते हैं; क्योंकि पाप अधिक सावधानी, अधिक तत्परता, अधिक चतुराईसे किया जाता है। उतनी सावधानी, उतनी चतुराई, उतनी तत्परता पुण्य करनेमें आवश्यक नहीं होती। इसलिए मृत्युके समय पुण्य कम और पाप अधिक स्मरण आते हैं।

मरनेके समय अपने पाप स्मरण आये और तब दीखा कि वे यमदूत आये, यह मुझे बाँधा, यह ले चले। यह जिसे यमदूतोंने बाँधा और ले चले, वह तो यातना देह है। 'शरीरं यदवाप्नोति'

यह यातनादेह मिल गया, इसमें मन, इन्द्रिय आये 'यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः' पलंगपर पड़े देहकी मृत्यु हो गयी। उससे मन-इन्द्रियादिको निकाल लिया।

कोई पुण्यात्मा है। जीवनमें उसने दान किया है, धर्मशाला बनवायी है, कुएँ-सरोवर आदि बनवाये हैं; तो मृत्युके समय उसे अपने पुण्य स्मरण आयेंगे। उसे लगेगा कि देवता विमान लेकर आये हैं। उसे देवता बनाकर विमानमें बैठाकर ले जा रहे हैं। यह उसे जो देवताका देह मिला, यह भी भावदेह है। इसे भोगदेह कहते हैं।

कहीं मृत्युके समय मांसादि खानेकी इच्छा हुई अथवा स्त्री-पुत्र आदिका स्मरण आया तो मांसाहारी प्राणी या स्त्री आदिके रूपमें अपनी वासनाके कारण सूक्ष्मदेहने भावदेह प्राप्त कर लिया। अब वह स्थूल शरीर भी वैसा ही पायेगा।

यह स्वर्ग-नरक या दूसरे पशु-स्त्री आदिका देह कबतक मिलेगा ? जबतक इनको देनेवाले कर्म-संस्कारका वेग रहेगा। कोई मूर्च्छामें मर गया तो वह पत्थरके समान जड़ हो जायगा और उसमें सुप्त कर्म संस्कार जैसे जागेंगे, वैसा ही देह उसे मिलेगा। यह सब स्वप्नके ही समान संस्कारकी—वासनाकी सृष्टि है। कोई पुण्यात्मा है; किन्तु तुम उसे पापी समझते हो तो तुम जब नरक जाओगे तो अपने उस नरकमें उसे भी देखोगे। कोई पापी है और उसे तुम पुण्यात्मा समझते हो तो अपने स्वर्गमें तुम्हें वह मिलेगा।

'ईश्वरः' परमात्माने जीवको मन-इन्द्रियोंका स्वामी बनाकर भेजा है। उसने तुम्हे खण्डमण्डलेश्वर बनाया है। तुम इन्द्रियोंको

विषय-भोगसे रोकनेमें समर्थ हो। तुम मनको शुद्ध तथा स्थिर करनेमें समर्थ हो। परमात्माने तुम्हें यह शक्ति दी है कि तुम मन तथा इन्द्रियोंका जैसा चाहो, वैसा उपयोग करो। अब यह तुम्हारा कर्तव्य था कि उन्हें अन्तर्मुख करते। तुमने उनका ठीक उपयोग नहीं किया। तुम उनमें 'मैं' 'मेरा' का भाव बनाकर संसारमें लिप्त हो गये। इससे ही तुम्हें जन्म-मरणके चक्रमें पड़ना पड़ता है।

अब कहो कि हम स्वर्गको, नरकको और पुनर्जन्मको मानते ही नहीं, तो न माननेसे काम नहीं चलेगा। जबतक अपने स्वरूपको जान नहीं लेते, तबतक अविद्याकी निवृत्ति नहीं होगी और अविद्याकी जबतक निवृत्ति नहीं होगी, तबतक जन्म-मरणसे छुटकारा भी नहीं होगा। जन्म-मरण छूटेगा अपने स्वरूपको जाननेसे।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंका त्याग करके नये वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही जीव पुराने शरीरको छोड़कर नये शरीर धारण कर लेता है।

'शरीरं यदवाप्नोति' जिस शरीरको पाता है और 'यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः' जिससे यह निकलता है, इसमें समर्थ होनेके कारण 'गृहीत्वैतानि संयाति' इन मन-इन्द्रियादिको लेकर ही नये शरीरमें जाता है और पुरानेको छोड़ता है। यह कैसे होता है? 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' जैसे वायु गुलाबके, चमेलीके, बेलाके फूल या केशरके खेतपरसे जाता है, तो उनके पुष्पोंकी सुगन्ध और मलपरसे जाता है तो उसकी दुर्गन्ध साथ ले जाता है, वैसे ही जीव अपने साथ मन-इन्द्रियादिको भी ले जाता है।



९

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।

कर्ण, नेत्र, त्वक्, रसना, नासिका और मनको आधार बनाकर यह जीव विषयोंका सेवन करता है ।

'श्रोत्रं' अर्थात् कर्णके संस्कार कैसे हैं ? तुम दूसरोंकी निन्दा सुनते हो, अपनी प्रशंसा सुनते हो या भगवान्‌के गुण, चरित्र और नामका संकीर्तन सुनते हो ? गुरुसे, सन्तसे विवेक, वैराग्य तथा आत्मतत्त्वका विवेचन सुनते हो ?

'चक्षुः'—नेत्रसे क्या देखते हो ? सुन्दर-रूप, सिनेमा, बाजार अथवा भगवान्‌के मन्दिरके श्रीविग्रह । सन्त-साधु पुरुषका दर्शन प्रिय है तुम्हें या अपने पुत्र-स्त्री मित्र आदिको देखनेकी लालसा करते हो ।

'स्पर्शनं'—छूना क्या चाहते हो ? कोमल शरीर, कोमल वस्त्र अथवा सन्तोंके चरण ।

'रसनं'—भोजन क्या प्रिय है ? अनेक प्रकारके मिष्ठान्न, फल-मेवे, केक-बिस्कुट, मांसादि खाना चाहते हो या भगवान्‌का प्रसाद खाना चाहते हो ।

'घ्राणं'—सूँघना क्या पसन्द करते हो ? पुष्प, सेण्ट आदि सूँघना चाहते हो या भगवान्के प्रसादकी माला, तुलसीकी गन्ध लेना चाहते हो।

'च' से प्राणको ग्रहण कर लो, अर्थात् क्रिया कैसी करते हो ? अधर्मका आचरण करते हो अथवा धर्मका, स्वार्थके लिए उद्योग-शील हो या परमार्थके लिए।

'मनः'—संकल्प कैसा है ? क्या सोचते रहते हो ? संसारके विषयोंका चिन्तन करते हो या भगवान्के रूप, गुण, लीला अथवा आत्माके स्वरूपका चिन्तन करते हो।

'अधिष्ठाय' का अर्थ है स्वीकार करके। जीवका कर्ता होना, भोक्ता होना और गमनागमन—यह उपाधिसे है। जिसे स्वीकार किया गया है, उससे स्वीकार करनेवाला तो पृथक् होगा ही। जब जीव मन तथा इन्द्रियोंको 'मैं' 'मेरा' स्वीकार कर लेता है तब मन इन्द्रियोंके रथपर बैठकर उसे स्वर्ग, नरक, ब्रह्मलोक आदि तक आना-जाना पड़ता है; क्योंकि वह अपनेको पापी-पुण्यात्मा मान लेता है। अच्छे-बुरे संकल्प मनमें आते हैं, अच्छे-बुरे विचार बुद्धिमें उठते हैं, अच्छी-बुरी क्रिया प्राणकी शक्तिसे होती है। ये विचार, संकल्प, क्रिया आत्माके धर्म नहीं हैं। लेकिन जीव मन-इन्द्रियोंकी उपाधि स्वीकार करके अपनेको इनके कर्मोंका कर्ता-भोक्ता मान लेता है। इस उपाधिको स्वीकार करके वह परिच्छिन्न-ताकी भ्रान्ति अपनेमें कर लेता है। इस परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिसे ही वह भोक्ता बना है।



१०

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।

शरीरसे निकलते हुए, शरीरमें रहते हुए और गुणोंसे सम्बद्ध होकर भोग-भोगते हुए इसे अज्ञानी नहीं देख पाते; किन्तु जिन्हें ज्ञाननेत्र प्राप्त हैं, वे देख पाते हैं ।

'विमूढा नानुपश्यन्ति' यह 'गच्छन्त्यमूढा' के ठीक विपरीत है । जो 'अमूढ' है वे तो उस अव्यय पदको प्राप्त करते हैं और जो 'विमूढ' हैं, वे कैसे हैं ? यही भगवान् बतला रहे हैं । 'उत्क्रामन्तं भुञ्जानं' जो शरीरसे निकलकर स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदिमें जाकर वहाँके भोग प्राप्त करता है एवं 'स्थितं वा भुञ्जानं' इस शरीरमें रहते हुए रूप-रस-शब्द-स्पर्श-गन्धका भोग करता है, 'गुणान्वितं' वा भुञ्जानं' कभी सत्त्वगुणसे युक्त होकर सुखका, शान्तिका भोग करता है, कभी रजोगुणसे युक्त होकर क्रियाके आवेगका भोग करता है और कभी तमोगुणसे युक्त होकर निन्दाका, आलस्यका भोग करता है, स्थूलदेह तथा अन्तःकरणकी उपाधिसे ही जो भोक्ता है, उसे वे नहीं जानते, इसलिए विमूढ हैं ।

वे उपाधिवाले रूपको ही देखते हैं। तमोगुण आया तो निद्रा आगयी, रजोगुण आया तो गति—क्रिया होने लगी, सत्त्वगुण आया तो शान्त हो गया अन्तःकरण; किन्तु वे 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' यह तथ्य नहीं समझ पाते।

'विमूढा' जो संसारके विषयोंमें अटक गया है, वह मूढ़ है। विषयोंमें फँसकर यदि जीव ईश्वरको भूल गया, तो ईश्वर कहता है कि 'कोई बात नहीं, तुम मुझे भूल गये तो मैं तुम्हें स्मरण कर लूँगा'; किन्तु यह तो भोगमें इतना मग्न हुआ कि अपने-आपको ही भूल गया है।

'स्थितं वा गुणान्वितम्' 'भुञ्जानं वा गुणान्वितम्' यह तो चुप बैठा रहे तब भी और भोगोपलब्धि कर रहा हो तब भी गुणोंसे युक्त ही रहता है। भोगोंको ही सब कुछ मान बैठा है। देहमें स्थित होकर देहको ही 'मैं' समझता है। अन्तःकरणकी उपाधि को स्वीकार करके अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता मानता है और देहकी उपाधिको स्वीकार करके अपनेको जन्मने-मरनेवाला मानता है; क्योंकि अन्तःकरणका भी जन्म-मरण तो होता नहीं। अन्तःकरण शान्त हुआ तो अपनेको शान्त, चञ्चल हुआ तो अपनेको चञ्चल और मूढ हुआ तो अपनेको मूढ मानता है। यही उपाधिको अपना स्वरूप मानना विमूढ़ता है।

'ऐसी मूढता या मनकी।

परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकनकी॥'

ये विमूढ भोगको ही सब कुछ समझते हैं। पैसेके लिए कितना परिश्रम लोग करते हैं। चोर कितना खतरा उठाता है चोरी करनेमें। जिसके लिए भोग है, जिसके लिए पैसा है, उसे समझते ही नहीं।

'दिवान्धा प्राणिनः केचिद् रात्रावन्धास्तथापरे।
केचिद् दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः॥'

कुछ प्राणी दिनमें अन्धे रहते हैं, उल्लूको दिनमें नहीं दीखता। कुछ प्राणियोंको रात्रिमें नहीं दीखता। लेकिन क्षुद्र इच्छाओंके कारण कुछ प्राणी रात और दिन दोनोंमें ही अन्धे बने हुए हैं।

ऐसे रात-दिन जो दोनोंमें अन्धे हो रहे हैं, वही विमूढ़ हैं। वे अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानते, केवल भोगको जानते हैं। आजके युवकोंमें बहुतोंको अपना गोत्र तक मालूम नहीं होता। अपने परदादा (प्रपितामह) का नाम ज्ञात नहीं; किन्तु सिनेमा-तारिकाओंका पूरा पता उन्हें रहता है। इनका मुद-मूड बिगड़ गया है।

'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' जिसने भगवान्‌का भजन करके वैराग्य-प्राप्त किया है, गुरुदेवके चरणोंमें बैठकर जिसने वेदान्तका श्रवण-मनन किया है, संशय-विपर्ययकी निवृत्ति होनेसे जिसके अज्ञानकी निवृत्ति हुई है, वह समझता है कि यह स्थूल और सूक्ष्म देह सत्त्व, रज तथा तमोगुणसे बने हैं। 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' अन्तःकरणकी उपाधिमें ही इन गुणोंका उदय-विलय होता है।

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्' इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंको विषयोंमें व्यवहार कर रही हैं। परमात्मा निरुपाधिक है। उसमें कोई उपाधि नहीं है और यह शान्त, घोर; मूढ़ अवस्थामें चित्तकी उपाधिमें आने-जानेवाला खेल है।

आधि-व्याधि और समाधि तीनों उपाधिमें हैं। आधि अर्थात् चिन्ता सूक्ष्म शरीरमें, व्याधि अर्थात् रोग स्थूल शरीरमें और समाधि कारण शरीरमें होती है। महामहोपाध्यायकी उपाधि लेते समय जैसे पगड़ी; दुपट्टा, कोट मिलता है, वैसे ही ये उपाधियाँ हैं। लाल पगड़ी रजोगुण, सफेद दुपट्टा सत्त्वगुण, काला कोट तमोगुण; किन्तु पगड़ी, दुपट्टा, कोट ही व्यक्ति नहीं है। जो इन उपाधियोंमें है, वह निरुपाधिक आत्मा है।

'तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।'
'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचलाबुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥'

श्रुतिसे—सुनसुनकर बुद्धिमें बहुत-सा भ्रम हो गया है। जब बुद्धि स्थिर होती है, एकाग्र होती है और अपने आत्मस्वरूपका बोध हो जाता है, तब जो कुछ सुना है और जो सुननेको रह गया है, सबसे वैराग्य हो जाता है।

उपाधिका अर्थ है कि जो समीप रहनेवाले पर अपना गुणधर्म डाल दे। कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरके जो समीप रहता है, इनका संग करता है, उसमें ये अपना धर्म आरोपित कर देते हैं।

इसलिए स्थूल-शरीरका मरना-जीना, उसे सर्दी-गर्मी लगना, सूक्ष्म-शरीरका सुखी-दुःखी होना, उसमें काम, क्रोध, लोभ आदि होना और कारणमें सुषुप्ति होना, यह अपनेमें मानकर विमूढ पुरुष अपनी जन्म-मृत्यु, अपनेको सर्दी-गर्मी लगना, अपनेको कामी, क्रोधी, लोभी तथा अपनेको जाग्रत्-सुप्त मानने लगते हैं।

'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' लेकिन सद्गुरुकी कृपासे जिन्हें वेदप्रतिपादित ब्रह्मात्मैक्यका ज्ञान है, वे ठीक देखते हैं कि जन्म-मृत्यु, भोग तथा शान्त, घोर, मूढ वृत्तियाँ उपाधिमें ही होती हैं। वे आत्मामें नहीं हैं।

'ज्ञानचक्षुषः' कुछ लोग स्थूलचक्षु हैं। जो नेत्रादि इन्द्रियोंसे दीखे, केवल उसे ही ठीक मानते हैं। प्रत्यक्षको ही वे प्रमाण मानते हैं। कुछ दूरचक्षु हैं, वे दूरबीनसे दूरकी वस्तु देख लेते हैं। ऐसे ही सूक्ष्मचक्षु लोग हैं। ये दूरबीन-खुर्दबीन-एक्सरे आदि सब यन्त्रचक्षु हैं। कुछ लोग कर्णचक्षु होते हैं, वे सुनी बातों पर ही भरोसा कर लेते हैं। कुछ चारचक्षु होते हैं। नौकर जो कुछ बता दे, वही उनके लिए ठीक है। इसी प्रकार अनुमानचक्षु, उपमानचक्षु, इतिहासचक्षु लोग होते हैं। लेकिन आत्माका ज्ञान इनमें-से किसी चक्षुके द्वारा नहीं होता। उसे तो ज्ञानचक्षु ही देखते हैं। गुरु-कृपासे शुद्धान्तःकरण पुरुष वेदप्रतिपादित आत्माके स्वरूपका श्रवण करके उसका ज्ञान प्राप्त करता है कि आत्मा इस देहकी मृत्युसे मरता नहीं। वह अजन्मा, शाश्वत, अकर्ता, अभोक्ता, अद्वय, अविनाशी है।

इस श्लोकका ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि विमूढ़ पुरुष यह नहीं देख पाते कि गुणोपाधिक आत्मा ही उत्क्रान्त, स्थित अथवा भोक्ता होता है, शुद्ध नहीं। अज्ञानके कारण गुण और गुणोंके कार्यसे तादात्म्यापन्न ही अपनेको जात-मृत, सुखी-दुःखी और सुषुप्त-समाहित मानता है। ज्ञानचक्षु महापुरुष अपनेको गुणोंकी उपाधिसे मुक्त जानते हैं अतएव गुणोपाधिकको वैसा-वैसा करते देखकर भी अपनेको वैसा नहीं देखते।



• *संगति*

अज्ञानी मूढ़ोंको शुद्ध आत्माका दर्शन-अनुभव नहीं होता, यह बतलाकर अब सद्गुरुके अनुग्रहभाजन, अपने मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले प्रयत्नशील जिज्ञासुको उसके दर्शन होते हैं, ऐसा बतलाते हैं—

११

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

अपने हृदयमें ही विराजमान इस आत्मतत्त्वको योगी प्रयत्न करके देखते हैं; किन्तु विक्षिप्त चित्त अशुद्धान्तःकरण लोग इसे प्रयत्न करके भी देख नहीं पाते।

'यतन्तो योगिनः' प्रयत्नशील योगी देखते हैं। भगवान्ने ही कहा है—'प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः' योगी प्रयत्न-पूर्वक सावधानीसे लगा रहे तो अन्तःकरण मलरहित होता है। जितना प्रयत्न धनप्राप्तिके लिए, भोगकी प्राप्तिके लिए लोग करते है, क्या उतना प्रयत्न भगवत्प्राप्तिके लिए करते हैं ?

ऐसी प्रतीक्षा, इतनी उत्कंठा और व्याकुलता होनी चाहिए, जैसी प्याससे व्याकुल व्यक्तिको पानीके लिए और कई दिनोंके भूखे मनुष्यको भोजनके लिए होती है।

'अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥'

'जैसे नन्हें-नन्हें पंखहीन पक्षिशावक चारा लेनेके लिए वनमें गयी अपनी माताके लिए तड़फड़ाते हैं, जैसे भूखसे व्याकुल छोटे-छोटे बछड़े अपनी गैया-मैयाका दूध पीनेके लिए व्याकुल होते हैं, अपने प्रियतम पतिकी विरहिणी प्रेयसी अपने परदेश गये पतिके लिए विकलतापूर्वक पलक-पाँवड़े बिछाये प्रतीक्षा करती रहती है, प्यारे कमलनयन ! मेरा मन तुम्हारे दर्शनके लिए उसी प्रकार व्याकुल उत्कण्ठासे तड़प रहा है ।'

एक जिज्ञासुने किसी महात्माके समीप जाकर प्रश्न किया—'भगवत्प्राप्तिके लिए कैसी व्याकुलता चाहिए ?' महात्मा उस समय कुछ नहीं बोले । उस शिष्यको लेकर वे नदीमें स्नान करने गये । शिष्य भी स्नान कर रहा था । सहसा महात्माने उसे पकड़कर पानीमें डुबा दिया और शिष्यके छटपटानेपर भी थोड़े क्षण वे उसे जलमें दबाये रहे । महात्माने जब छोड़ा तो पानीसे ऊपर आकर शिष्य बोला—'आपने तो मेरे प्राण ही ले लिये थे ।'

महात्मा बोले—'मैं तो केवल तुम्हारे प्रश्नका उत्तर दे रहा था । पानीमें डूबनेका जैसा कष्ट तुम्हें हो रहा था, जब अपने भवसागरमें डूबनेका उतना ही कष्ट अनुभव हो और पानीसे निकलनेको जैसे तुम व्याकुल थे, वैसी ही व्याकुलता भगवत्प्राप्तिके लिए हो । ईश्वरकी प्राप्तिके लिए ऐसी योग्यता होनी चाहिए। मनसे

अर्थात् पापवासनासे और विक्षेप अर्थात् मनकी चञ्चलतासे मुक्त होकर ईश्वरप्राप्तिका अधिकार प्राप्त होता है।

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स वै युक्ततमो मतः॥'

'योगिनः' यहाँ बहुवचन है। इसका तात्पर्य है कि योगी तो बहुत हैं—अष्टाङ्ग योगी, लययोगी, भक्तियोगी, कर्मयोगी, ज्ञानयोगी आदि, प्रश्न यह है कि वे देखते कहाँ हैं? 'आत्मन्यवस्थितं' ईश्वरको कहीं जाकर नहीं देखना पड़ता और न यही होता है कि ईश्वर ही कहींसे चलकर दर्शन देने आये तब देखा जाय। वह तो अपने हृदयमें ही बैठा हुआ है। अनादिकालसे ईश्वर हृदयमें बैठा प्रतीक्षा कर रहा है कि हम उसकी ओर देखें। लेकिन हम उस ईश्वरकी ओरसे मुख फेरे बैठे हैं। यह जीव ही है जो ईश्वरकी ओर पीठ करके संसारको देख रहा है।

'योगिनः आत्मनि यत्नात्मनि अवस्थितम्' योगी प्रयत्नमें, साधनमें ही स्थित परमात्माको देखते हैं। हमारी व्याकुलतामें ही भगवान् बैठा है। वह उस व्याकुलतासे तृप्त होता है। ईश्वर अपने भीतर, अपने मनमें ही है। प्रयत्न करो, तब उसके दर्शन होंगे।

'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।'

सभी प्रयत्न करनेवालोंको वह प्राप्त ही हो जायगा, ऐसी बात नहीं है। 'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्ति' प्रयत्नसे ही वह नहीं मिलता। जीवनभर लोग आसन-प्रणायाम करते हैं;

किन्तु उनमें अनेकोंको ईश्वरमें विश्वास ही नहीं होता। ईश्वर तो अपनी कृपासे ही मिलता है। ईश्वरकृपा गुरुके रूपमें, नामके रूपमें, भजनके रूपमें आती है और तब उससे ईश्वर की प्राप्ति होती है।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे कोई पूछता कि आप अद्वैत-वादी हैं ? तो वे कहते—'अद्वैतवादी तो हरद्वार-ऋषिकेशमें रहते हैं। हम अद्वैतवादी नहीं हैं, हम तो अद्वैत तत्त्व हैं। अद्वैत तत्त्व भिन्न वस्तु है और शास्त्रका अध्ययन-अभ्यास करके अद्वैतवादी हो जाना भिन्न वस्तु है।

'अकृतात्मानो' गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद्–यह प्रस्थानत्रयी कण्ठस्थ हो गयी है, किन्तु अद्वयतत्त्वका बोध नहीं हुआ। ऐसा इसलिए हुआ कि 'कृतात्मा' नहीं बने। बुद्धिको सजाया नहीं गया। लोग केशको, नखको, मुखको सजानेमें कितना परिश्रम करते हैं ? घर सजानेका, वस्त्र सजानेका, कार्यालय सजानेका तो व्यसन है; किन्तु बुद्धिको सजानेका व्यसन नहीं है। बुद्धि भी देह ही है, सूक्ष्म शरीरका अंग है। बुद्धिका बिगड़ना है—

'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥'

जो अपनेको कर्ता मानता है, वह अकृतबुद्धि है, वह दुर्मति है; क्योंकि वह भगवान्‌की भक्ति नहीं करता। यदि भक्ति करता तो भगवान्‌को प्रेरक मानता। वह योग भी नहीं करता। योग करता होता तो आत्माको द्रष्टा और प्रकृति को कर्ता मानता। अद्वैत ज्ञान होता तो कर्तापन औपाधिक समझ लेता। अतः उसने

योग, भक्ति या ज्ञान, किसीसे भी बुद्धिका सम्पादन नहीं किया है। पशुके समान वह केवल दूसरोंको देखकर उनका अनुकरण करता रहा है। उसने केवल धन, भोग और मनोरथका सम्पादन किया है। उसकी बुद्धि प्यासी है, भूखी है, नंगी है। उसने कपड़ेसे, अलंकारसे, तेल-पाउडरसे स्थूल देहको ही सजाना सीखा है, सूक्ष्मको सजाना नहीं सीखा। स्थूलको सजाया—चमड़ेको सजाया, जिसका ब्याह चमड़ेसे होना है। जिसका ब्याह ईश्वरसे होना है, उस बुद्धिको नहीं सजाया। चमड़ा सजाओगे तो वह चमड़ेसे जुड़ेगा और बुद्धि सजाओगे तो वह अपने पति ज्ञानस्वरूप परमात्मासे जुड़ेगी।

बिना माता-पिताकी अनाथ लड़कोकी भाँति यह बुद्धि स्थान-स्थानपर भटक रही है। यह मलिन और चञ्चल, आवारा हो रही है। इसे या तो अपने पिताके घर रहना चाहिए अथवा अपने पतिके घर। इसका पति परमात्मा है और पिता है गुरु। जबतक पति-परमात्मा नहीं मिलता, तबतक इसे गुरुकी आज्ञामें रहना चाहिए। 'अकृतात्मानः'का अर्थ अस्वच्छ—चञ्चल बुद्धिवाले, जिनकी बुद्धिका मल-विक्षेप दूर नहीं हुआ।

'अचेतसः' अचेतसका अर्थ बेहोश अथवा असावधान। भगवान्‌ने गीतामें ही बताया है—

'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥'

भगवान् ही कहते हैं कि जो उनके उपदेशपर श्रद्धा न करे वह अचेतस है। समझो या श्रद्धा करो।

'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।'

अपनेमें तो समझ नहीं है, स्वयं जाननेकी योग्यता नहीं और गुरु तथा शास्त्रकी वाणीपर श्रद्धा नहीं करते, तब संशय कैसे मिटेगा। संशय रहेगा, तब साधन कोई बन नहीं सकता। उसका तो विनाश ही निश्चित है।

दयामय भगवान् दया करके जीवके हृदयमें विराजमान हो गये हैं; किन्तु जो अकृतात्मा और अचेतस हैं, उनके हृदयमें आकर भगवान् भी दुःखसे दुवले हो जाते हैं। जैसे पिता अपने आवारा पुत्रकी दशा देखकर दुःखी रहता है। जैसे पति अपनी पत्नीको कुपथपर जाते देखकर दुःखी होता है, वैसे ही भगवान् भी जीवको संसारके अनित्य विषयोंमें लगकर दुःखी होनेसे दुःखी होकर दुर्बल पड़ जाते हैं। यह बात स्वयं भगवान्ने ही कही है—

'कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुर निश्चयान्॥'

ये अचेतस लोग अपने शरीरके पञ्चतत्त्व, धातुओंको तो क्षीण करते ही हैं, अपने भीतर रहनेवाले मुझे भी कृश बना देते हैं।

हृदयकी कोठरी भगवान्के रहनेका स्थान है। अव तुम जब उसमें लोभको, क्रोधको, मोहको, कामको भी भरने लगते हो तो

भगवान् सिकुड़ते जाते हैं। संसारके विषयोंको तुम जितना-जितना हृदयमें भरते जाते हो, भगवान् उतने सिमटते जाते हैं और इतने सिमट जाते हैं कि अदृश्य हो जाते हैं, दीखते ही नहीं। हृदयको तो तुमने रेलवेके थर्डक्लासका मुसाफिरखाना बना दिया है, जहाँ भीड़ भरी है, दोने-पत्ते, छिलके-कागज, थूक-पानी आदि गन्दगी फैली है और उसीमें भगवान्को भी बैठा दिया है, तो वे उस भीड़में छिप गये हैं।

स्वयं सावधान नहीं हैं। बुद्धिमें आवरण भङ्ग करनेकी योग्यता नहीं है, यह अचेतस होना है और बुद्धिका मल है—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि। बुद्धिमें स्थिरता नहीं है, कोई निश्चय दृढ़ नहीं होता, यह विक्षेप है। बुद्धिमें मल तथा विक्षेप रहना अकृतात्मा होना है। इन दोषोंके कारण 'नैनं पश्यन्ति' स्वयं सावधान होकर नेत्र खुले नहीं रखते, यह अचेतसपना और किसीसे पूछकर जानते नहीं कि नेत्र कैसे स्वच्छ हों, कैसे देखा जाता है, यह अकृतात्मा। अतः ऐसे लोग नहीं देख पाते।

जगत् भगवान्ने क्रीड़ाके लिए बनाया है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्युः।'

हे प्रभो ! यह तीनों लोक आपने अपने खेलके लिए बनाये हैं। इसमें जो दुर्बुद्धि हैं, वे ही अन्य बुद्धि करते हैं। खेलमें दो दल होते

हैं। जगत्‌में भी भगवान्‌ने दो दल बनाये हैं। श्रुति कहती है—

'स एव साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषते।
स एवासाधु कर्म कारयति यमधोनिनीषते।'
'आनुकूल्य प्रतिकूल्याभ्यां व्यवस्था।'

जो भगवान्‌के दलमें सम्मिलित है, उससे भगवान् अच्छे कर्म कराकर उन्नति देते हैं और जो भगवद्विमुखोंके दलमें है, उससे विपरीत कर्म कराकर अधोगति देते हैं। खिलाड़ी जिस दलमें सम्मिलित होता है, उस दलको जिताता है, यह सामान्य नियम है।

भगवान् किसे अपने दलमें लेते हैं? उसे, जो चाहभरे नेत्रोंसे उनकी ओर देखता है। जो भगवान्‌की ओर न देखकर संसारकी ओर देखनेमें लगा रहता है, उसे भगवान् अपने दलमें नहीं लेते। अब तुम यह निश्चय करो कि रामदलमें रहोगे या रावण दलमें।- केवल शास्त्र पढ़नेसे ही ईश्वरके दलमें नहीं जाया जा सकता।

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥'

वादी, प्रतिवादी, प्रतिवादि भयङ्कर अथवा प्रतिवादि भयंकर-भयंकर होनेसे ही कोई परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेता। 'नावि-रतो दुश्चरितात्' जिसने काम, क्रोध, लोभ नहीं छोड़े, दुश्चरित्रका त्याग नहीं किया। वह परमात्माको नहीं पाता।

परमार्थ ज्ञानके लिए जिज्ञासुको कृतात्मा और सचेतस होना ही

चाहिए। इसके बिना कितना भी परिश्रम करे, अपने भीतर बैठे परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर सकता। यदि अपने से बाहरकी वस्तुका साक्षात्कार करना होता तो यन्त्रों द्वारा दृश्यका साक्षात्कार अकृतात्मा और अचेतस भी कर सकते थे। लेकिन प्रत्यक् चैतन्यके साक्षात्कारके लिए शान्ति, निवृत्ति, वैराग्यादि आवश्यक हैं। इस प्रकार जो बात 'निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः'में कही गयी थी, उसीको यहाँ पुनः स्मरण कराया गया है।



• *संगति*

पहले यह कहा था कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि मुझे प्रकाशित नहीं कर सकते। अब यह बतला रहे हैं कि उनमें जो प्रकाशन सामर्थ्य है, वह मेरा ही तेज है—

१२

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

जो तेज सूर्यमें रहकर सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित कर रहा है, जो चन्द्रमा और अग्निमें है, वह मेरा तेज समझो।

खुले नेत्रोंसे सर्वत्र परमात्माका ही दर्शन हो रहा है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सद्धीदं सर्वं' 'चिद्धीदं सर्वं' 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' आदि श्रुतियाँ इसी बातका प्रतिपादन करती हैं। श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने कहा—'ईश्वर तो निराकार है।' श्रीमहाराजजी फक्कड़की भाषामें बोले—'तब साकार क्या तुम्हारा चाचा है? अरे, ईश्वर निराकार है तो साकार कौन है? निराकार भी ईश्वर है और साकार भी ईश्वर ही है।' 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' परमार्थ सत्ता एक ही है। वर्णन-शैली भिन्न-भिन्न होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वत् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥'

एक पदार्थ है, जैसे फूलको ले लो। नेत्रसे फूलका रंग देखा जाता है। नेत्रको फूलकी गन्ध, कोमलता, रसका पता नहीं लगता। नासिकासे फूलकी गन्ध अनुभवमें आती है। रसनासे फूलके स्वादका पता लगता है। त्वचासे फूलके स्पर्शका ज्ञान होता है। इन्द्रियोंके भेदसे एक ही फूल रंग, गन्ध, रस, स्पर्श आदि रूपोंमें जाना जाता है। इसी प्रकार एक ही परमात्मा अनेक शास्त्रोंमें अनेक प्रकारसे वर्णित है।

इन्द्रियोंसे गुण ही अनेक रूपमें गृहीत होते हैं। ऐसे ही परमात्मा एक अद्वितीय है; किन्तु भक्तियोगमें वह दयालुके रूपमें गृहीत होता है। योगी उसे असंग द्रष्टाके रूपमें उपलब्ध करता है। ज्ञानमें वह अद्वैत रूपसे जाना जाता है। यह भेद प्रक्रियाका है। जगत्के मूलतत्त्वमें कोई भेद नहीं है। यह बात अब इस श्लोकमें भगवान् बतला रहे हैं।

श्री मधुसूदन सरस्वतीका कहना है कि 'न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः' इस श्लोकमें व्यतिरेककी जो विधि है, वह श्रुतिके इस आधे मन्त्रका व्याख्यान है—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमा विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमग्निः।'

अब इस श्लोकमें इसी श्रुतिके शेष आधे भागका विवेचन करके अन्वय विधिका प्रतिपादन भगवान्ने किया है। श्रुतिका शेष अर्ध भाग है—

'तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

श्रीरामानुजाचार्यजीका कहना है कि तेजके रूपमें परमात्माकी उपासना यहाँ बतायी गयी है। यह जो सूर्य, चन्द्र, अग्निमें तेज है वह जड़ तेज नहीं है। अपने पूर्व-पूर्व जन्ममें सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निने भगवान्‌की आराधना करके तेजकी याचना की—'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि' इससे कृपा करके भगवान्‌ने इन्हें अपने तेजसे सम्पन्न किया। इसमें जो तेज है, वह भगवत्तेज ही है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर्य, चन्द्र और अग्निका यह वर्णन केवल उनके आधिभौतिक रूपका ही वर्णन नहीं है, यह इनके आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों ही रूपोंका वर्णन है। सूर्यका अध्यात्मरूप नेत्र है और सूर्यमण्डल तथा सूर्यसे प्रकाशित होनेवाला समस्त रूप अधिभूत है। अधिभूत और अध्यात्मको जोड़नेवाली कड़ी अधिदैव है।

'सूर्यो आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।' सूर्य चराचर जगत्‌की आत्मा चैत्यन्यज्योति है। चेतनका अर्थ भी यहाँ समझ लेना चाहिए। सेन्द्रिय पदार्थ चेतन और निरिन्द्रिय जड़, यह परिभाषा अपने शास्त्रको मान्य नहीं है। शास्त्रको मान्य परिभाषा यह है कि जो अपनेको तथा दूसरेको जाने वह चेतन और जो अपनेको तथा दूसरेको भी न जाने, वह जड़। सीधे शब्दोंमें द्रष्टा चेतन है और दृश्य जड़ है। अहमथ चेतन और उससे ग्राह्य—प्रकाश्य सब जड़।

अब जो प्रकाशक है, द्रष्टा है, उसे पश्यक कहते हैं 'पश्यति इति पश्यकः।' 'पश्यक एव कश्यपो भवति' वर्ण विपर्ययसे

पश्यक ही कश्यप कहलाता है। महर्षि कश्यपकी पत्नी दितिसे दैत्य उत्पन्न हुए। 'दिति' शब्द 'दो अवखण्डने'से बना है। 'द्यतीति दितिः', अतः दितिका अर्थ हुआ, जो एकत्वको टुकड़े-टुकड़े करके नाना रूपोंमें दिखलाये। कश्यपजीकी दूसरी पत्नी आदिति हैं। जो 'न द्यति इति अदितिः' दिति नहीं, वह अदिति। जो अनेक रूपोंमें अनुगत एकत्वका दर्शन कराये, उसे अदिति कहते हैं। इन अदितिके पुत्र आदित्य—सूर्य हैं।

सूर्य नेत्रमें स्थित होकर सबको प्रकाशित करता है। रूप बनकर वही देखा जाता है। वही करण है और वही विषय भी। बीजानुगत संस्कारमें जाकर सूर्य ही लाल, पीला, नीला आदि रंग बनता है। सत्तासामान्य रूपसे परमात्मा सबमें है और चिद्रूपसे भी परमात्मा सबमें एक ही है। निर्विशेष सत् और निर्विशेष चित् सर्वत्र एक है। इस प्रकार जब सबमें ही परमात्मा है, तब सूर्यकी ही उपासना क्यों? यह प्रश्न उठा। इसका समाधान यह है कि दीवार, मिट्टी, पत्थर, शीशा, आदि सबमें ही अग्नि तो व्यापक है ही; किन्तु अपना मुख शीशेमें ही दीखता है। क्योंकि शीशेमें प्रकाशाधिक्य है। इसी प्रकार सत्त्वगुणाधिक्यमें ईश्वरका दर्शन करनेकी सामर्थ्य है। इसीलिए जहाँ प्रकाशकी सर्वाधिकता है, वहाँ सूर्यमें पहिले भगवान्‌को पहिचानो। सूर्यमें, नेत्रमें पहिले परमात्माको पहिचानो तो अन्यत्र देखना सुगम होगा—'दक्षिणाक्षः पुरुषः' श्रुतिने कहा।

आदित्य बारह हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि। प्राण दस हैं—पाँच मुख्य (प्राण, अपान, समान, व्यान, और उदान) और पाँच गौण (नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और

धनञ्जय) ये मरुद्‌गण हैं। ये मरुद्‌गण उत्पन्न तो दितिसे हुए, अतः दैत्य हैं; किन्तु भगवान् नारायणकी उपासनाके प्रभावसे इन्द्रने इन्हें देवता बना दिया। मरुद्‌गण उनचास हैं। प्रवर्षण वायु, संवर्तक वायु आदि कुल उनचास वायु हैं।

ये सूर्य, चन्द्र आदि देवता भी पाप-लिप्त होते हैं। पाप नेत्रमें आया तो नेत्रका देवता पाप-लिप्त हुआ। पाप कानमें आया तो कानका देवता पाप-लिप्त हुआ। पाप पहिले मनमें आता है। फिर वही पाप नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियोंमें आता है और तब व्यक्ति पाप देखता, पाप सुनता है। इस पापसे बचनेका उपाय है कि तुम देखो कि नेत्रज्योति तुम्हारी नहीं है। सबमें जो सत्ता और स्फूर्ति देनेवाला है, वही सूर्यमें तेज है, और वही तुम्हारी नेत्रज्योति है।

कोई साधक गुरुनानकके पास अपनी लड़कीके साथ गये। गुरुनानक उस लड़कीको ध्यानसे देखने लगे। एक साधकने पूछा—'आप इस लड़कीमें क्या देखते हैं?' गुरुने उत्तर दिया—'इसके सुन्दर मुख, सुन्दर नेत्र, सुन्दर नाक आदिमें मैं इसको बनानेवालेकी कारीगरी देख रहा हूँ।'

रूपका अधिष्ठान सूर्य है। रूप और आकृतिका अन्तर जान लेना चाहिए। रेखाओंके द्वारा जो त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्त अथवा मनुष्य, पशु, पक्षी आदिका आकार बना है, वह आकृति है। आकृतिका अधिष्ठान मृत्तिका है। आकृति भौतिक है। लाल, नीला, पीला, गोरा, साँवला आदि रूप हैं। इस रूपका अधिष्ठान सूर्य है। परमात्मा सब रूपोंमें है; किन्तु उसे पहिले उत्तम अधिष्ठानमें देखो।

अच्छे अधिष्ठानमें उसे पहचाननेका अभ्यास हो जायगा तो वह सर्वत्र दीखने लगेगा।

'जगद् भासयतेऽखिलम्' केवल सौरमण्डलका प्रकाशक ही वह तेज नहीं है, वह समस्त ब्रह्माण्डोंका प्रकाशक है। जैसे अपना यह सूर्य है, वैसे अनन्त सूर्य हैं। मंगल, बुध आदि ग्रहों सहित यह सौरमण्डल ध्रुवकी परिक्रमा करता है, ऐसे ही सौरमण्डलों सहित अनेक ध्रुव भी किसीकी परिक्रमा करते हैं। किसीको, किसी भी इन्द्रियके द्वारा, किसी देश, किसी कालमें जो कोई वस्तु चेतनका विषय बनेगी, वह दृश्य होगी। देखनेवाला जो है, वह आदित्यमण्डल या अखिल जगन्मण्डलसे परिच्छिन्न नहीं है। वह जीवात्माओंके पृथक्-पृथक् होनेसे भी परिच्छिन्न नहीं है। वह एक अखण्ड ज्योति है।

'यच्चन्द्रमसि' चन्द्रमा अन्न है–भोज्य है और अग्नि भोक्ता है। 'सोमो भूत्वा रसात्मकः' और 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' आगे इसी अध्यायमें आनेवाला है। भोक्ता और भोग्य दोनों भगवान् हैं। इस प्रकार जो अग्नि और सोमको पहचान लेता है, उसे अन्नदोष नहीं लगता। श्रुति कहती है—'अहमन्नं अहमन्नं अहमन्नं। अहमन्नादो अहमन्नादः।' अन्न भी परमात्मा और अन्नका भोक्ता भी परमात्मा ही है।

चन्द्रमा आपोमण्डल है, रसात्मक है। चन्द्रमासे सम्पूर्ण वनस्पतियोंमें रस आता है और वनस्पतियोंसे आहारके द्वारा वही रस शरीरमें पहुँचता है। भोजनके सूक्ष्म भागसे अर्थात् उसी चन्द्रमासे आये रससे मनका पोषण होता है। मनका अधिष्ठाता देवता चन्द्रमा है।

चन्द्रमा रसात्मक है, अतः जिनमें राग प्रधान है, उनका उपास्य चन्द्रमा है। स्त्रियोंका उपास्य चन्द्रमा है। स्त्रियोंके जितने व्रत-पूजन हैं, सब चन्द्रमाके पूजनके हैं। पुरुषोंके लिए चन्द्रमाके पूजनका कोई व्रत नहीं है। स्त्री-शरीरका नाम स्त्री और पुरुष-शरीरका नाम पुरुष नहीं समझना चाहिए। पुरुष-शरीरमें भी बहुतसे स्त्रीत्व प्रधान लोग होते हैं और स्त्री-देहमें भी पुरुषत्व प्रधान नारियाँ मिलती हैं। अतः जिनमें रागात्मिका वृत्ति अधिक है, उनका आराध्य चन्द्रमा है। वे भक्तिके अधिकारी हैं। इसीलिए श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र—इन नामोंमें 'चन्द्र' लगता है। जिसमें रसात्मकवृत्ति अधिक है, वासनाकी—रागकी—संकल्पकी प्रधानता है, वह उपासनामें लगेगा तो उसका चित्त शीघ्र एकाग्र होगा।

बुद्धिके देवता सूर्य हैं। 'धियो यो नः प्रचोदयात्'के द्वारा सविता देवताकी आराधना होती है। जिनमें पुरुषत्व प्रधान है, जो तर्कशील हैं, उनका आराध्य सूर्य है। वे ज्ञानमार्ग के अधिकारी हैं।

वाक् तथा मन प्रधान उपासना चन्द्रकी होती है। वह श्रीरामचन्द्र या श्रीकृष्णचन्द्रकी हो सकती है। वाक्की प्रधानता जप, कीर्तन-गुण-लीला-गानमें है और मनकी प्रधानता लीला-चिन्तन भावना आदिमें। श्रीरामकी उपासना धर्ममिश्रित प्रेमकी, श्रीकृष्ण-की उपासना शुद्ध प्रेमकी और सूर्यकी उपासना शुद्ध ज्ञानकी है। श्रीराम सूर्यवंशमें हुए—उनकी उपासनामें प्रेमके साथ ज्ञान मिश्रित है। श्रीकृष्ण चन्द्रवंशमें हुए—उनकी उपासना शुद्ध प्रेमकी है। संसारके संगसे, वासनासे बचनेके लिए चन्द्रका—भगवान्के नखचन्द्र, मुखचन्द्रका ध्यान-चिन्तन, आराधन करना चाहिए।

चन्द्रमाके भी आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिकरूप हैं। जिस चन्द्रमापर पृथिवीका छायासे ग्रहण लगता है, वह आधिभौतिक चन्द्रमा है। जिसपर राहुसे ग्रहण लगता है, वह आधिदैविक चन्द्रमा है और हमारे भीतर जिसपर काम, क्रोध, लोभ आदिसे ग्रहण लगता है, वह आध्यात्मिक चन्द्रमा है।

कोटि-कोटि सूर्यमण्डल हैं। प्रत्येक सूर्यमण्डलमें अनेक ग्रह हैं। अपनी पृथिवी भी एक ग्रह है। किन्हीं ग्रहोंके कोई चन्द्रमा नहीं हैं और किन्हींके कई-कई चन्द्रमा हैं। इन असंख्य चन्द्र-मण्डलोंमें रहकर कौन रस और आह्लादकी वर्षा करता है? वह परमात्मा ही है। परमात्मा ही चन्द्रमण्डलमें स्थित होकर रस तथा आह्लादका दान कर रहा है। वनस्पतियोंमें वही रस-रूपमें स्थित है और हमारे भीतर वही मनमें रस-आनन्दका संचार कर रहा है।

संसारमें जो रस अर्थात् जल है, वह चन्द्रतत्त्व है और वह परमात्मा ही है। लोग सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, पृथिवी आदिको जड़ समझते हैं; किन्तु जड़ता तो भ्रम है। जो 'अहं'के रूपमें भासमान है और जो 'इदं'के रूपमें प्रतीयमान है, दोनों ही परमात्मा ही हैं। अहमर्थ और इदमर्थके रूपमें एक ही परमात्मा प्रकाशित हो रहा है।

ज्ञानकी दो प्रक्रिया है—एक विविक्त और दूसरी सर्वात्मक। विविक्त ज्ञानकी प्रक्रियामें द्रष्टा-दृश्य, प्रकाशक-प्रकाश्य, जड़-चेतनका विवेक करके द्रष्टाको दृश्यसे पृथक् पहिचाना जाता है। जैसे घटका द्रष्टा घटसे पृथक् है, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन आदिका द्रष्टा देहेन्द्रिय, मनादिसे पृथक् है—यह विविक्त ज्ञानकी

प्रक्रिया हुई। सर्वात्मक ज्ञानकी प्रक्रिया यह है कि द्रष्टा ही दृश्यके रूपमें प्रतीत हो रहा है। संसारकी समस्त वस्तुएँ उससे भिन्न नहीं हैं। ये दोनों प्रक्रियाएँ ठीक हैं। यह बात भी ठीक है कि मिट्टी घड़ोंसे पृथक् है और यह बात भी ठीक है कि घड़े मिट्टीसे पृथक् नहीं हैं।

'न तद् भासयते सूर्यो' आदिसे विविक्तज्ञानकी प्रक्रियासे भगवान्ने निरूपण किया था। अब यहाँ 'यदादित्यगतं तेजो' आदिसे सर्वव्यवहारात्मकज्ञानकी प्रक्रियाका निरूपण कर रहे हैं। सर्वव्यवहारात्मक वही परमात्मा है। वही हमारी वाणी, नेत्र, कर्ण, नासिका, त्वचा, मन बुद्धिके रूपमें है, वही इनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संकल्प, विचारके रूपमें है और वही इनका प्रकाशक भी है। श्रुति कहती है—

'स एवेदं सर्वं', 'ब्रह्मैवेदं सर्वं', 'आत्मैवेदं सर्वं', 'अहमेवेदं सर्वं' ये चारों श्रुतियाँ एकत्र ही हैं। इसका स्पष्टार्थ है कि वह, ब्रह्म, आत्मा और अहं शब्दोंका एक ही अर्थ है। यह-वह, तुम-मैं, कुछ कहो—वस्तु तो एक ही है। नाम और रूप भिन्न-भिन्न होनेपर भी दीखनेवाली वस्तु, दीखनेवाला प्रकाश तथा देखनेवाला, ये तीनों एक ही हैं।

'यच्चन्द्रमसि' भगवान्की नाभिमें ही सम्पूर्ण सृष्टि है। 'नभ एव नाभिः' यह आकाश ही नारायणकी नाभि है। जैसे घरमें खिड़कीसे आती सूर्यकी किरणके प्रकाशमें नन्हें धूलि-कण उड़ते दीखते हैं, वैसे ही भगवान् नारायणकी नाभि इस नभमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उड़ रहे हैं। इनमें सूर्यमण्डल, सूर्यमण्डलोंमें ग्रह

और ग्रहके साथ चन्द्रमा। इन अनन्त चन्द्रोंमें भगवान् ही तेजके रूपमें स्थित होकर उसकी वर्षा कर रहे हैं। चन्द्रमाकी रश्मिसे ही विष विष और अमृत अमृत है। चन्द्रमा न हो तो जलमें प्यास मिटानेकी शक्ति ही न आये। चन्द्रमासे रस न मिले तो पेड़-पौधे, अन्न-तृण सब सूख जायँ। अन्न, फल, कन्द सब नष्ट हो जायँ और मन भी सूख जाय। सब पदार्थोंमें जो रस है, वह भगवान्, मन भगवान् और मनमें जो कुछ आता है, वह भी भगवान् ही हैं।

'यदादित्यगतं तेजो'के द्वारा भगवान्ने सूचित किया कि जाग्रत् अवस्थामें जो कुछ भान हो रहा है, वह सब परमात्मा है। आदित्य नेत्रका देवता है। अतः नेत्रसे समस्त जाग्रत्का ग्रहण हो जाता है।

'यच्चन्द्रमसि'के द्वारा स्वप्नावस्थाके सब विषय भगवान् हैं, यह सूचित कर दिया। सुषुप्तिका ज्ञान तो जागनेपर वाणीसे होता है। अतः वाणीके देवता अग्निको 'यच्चाग्नौ'के द्वारा वर्णित करके सुषुप्ति भी भगवान् ही हैं, यह समझा दिया।

अनुभव ज्ञानेन्द्रियोंसे होता है अथवा मनसे होता है। रूप, रस आदि विषयोंका अनुभव ज्ञानेन्द्रियोंसे होता है। स्वप्न तथा संकल्पका अनुभव मनसे होता है। अब जो अनुभव ज्ञानेन्द्रिय अथवा मनसे नहीं होता, वह कौन करायेगा? ज्ञानेन्द्रिय तथा मनके द्रष्टाका अनुभव इनसे नहीं होता। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्मका अनुभव भी इनसे नहीं होता। यह अनुभव होता है वेदवाणीसे। वाग्ज्योति वेदवाणी ही इस अनुभवको सूचित करती है। 'नावेद-

विन्मनुते तं वृहन्तम्' जो वेदज्ञ नहीं है, वह ब्रह्मको नहीं जान सकता। वेदवाणी वाग्ज्योति है और वाक्का देवता अग्नि है। 'यच्चाग्नौ' अग्निका तेज भी परमात्मा का ही तेज है। इसका तात्पर्य यही है कि वह परमात्मा सर्वरूप है।

'मया ततमिदं सर्वं', 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' आदि वाक्य गीतामें ही आये हैं। वह परमात्मा सर्वरूप है; किन्तु हम उसे पहचानते नहीं, इसीसे हमें वह प्राप्त नहीं है। वही नेत्रके रूपमें है, वही नेत्रसे देखता है और वही देखा जाता है। शास्त्र तो परमात्माके सर्वरूपका वर्णन करता है 'ॐ भूरसि' पृथिवी, परमात्मा है, 'यच्चन्द्रमसि'के द्वारा जलमात्रको परमात्मा वता दिया। 'वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' वायु तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। 'अग्निर्ब्रह्म' अग्नि ब्रह्म है। 'खं ब्रह्म' आकाश ब्रह्म है। 'प्राणो ब्रह्म' प्राण ब्रह्म है। वायु प्रत्यक्ष ब्रह्म है तो नासिकामें जाने-आनेवाला वायु भी ब्रह्म है ही। मिट्टीकी जो पार्थिव मूर्ति बनाते हैं, शालिग्राम शिला, नर्मदेश्वर लिंगमूर्ति, मन्दिरोंमें स्थापित मूर्तियाँ, ये सब मिट्टीके ही तो निर्माण हैं। इन सबमें परमात्माकी पूजा होती है।

कर्मकाण्डके पण्डित कहेंगे कि मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके बाद भगवान् आते हैं; किन्तु तत्त्वज्ञानी समझता है कि प्राणप्रतिष्ठाके पूर्व भी वह भगवान् ही थे, प्राणप्रतिष्ठा होनेपर भी भगवान् हैं और विसर्जन होनेपर भी भगवान् ही रहते हैं। तत्त्वतः सर्वत्र ईश्वर है, इसीलिए किसी भी पदार्थ या मूर्तिमें भाव दृष्टिसे ईश्वरकी आराधना

होती है। तत्त्वतः वह ईश्वर न हो तो भावदृष्टिसे भी वहाँ ईश्वरकी उपस्थिति नहीं हो सकती।

सर्वत्र ईश्वर है तब एक ही स्थानपर पूजा क्यों? इसका उत्तर यह है कि सर्वत्र ईश्वरको पहचानना हमें नहीं आता, इसलिए पहिले एक स्थानपर ईश्वरको हम पहचान लें तब उसके सर्व रूपको भी पहचान लेंगे। स्त्रीके लिए पति परमात्मा है। इसका अर्थ हुआ कि पुरुषमात्र परमात्मा है; क्योंकि प्रत्येक पुरुष किसी न किसी स्त्रीका पति है। कुमारी कन्या सभी जगदम्बा होती हैं। माता-पिता परमात्मा, अतिथि भगवान्, गुरु भगवान्। अब भगवान्से पृथक् कोई कहाँ रह जाता है? लेकिन सर्वत्र ईश्वर-दृष्टि नहीं हो पाती, इसलिए पहिले एक स्थानमें ईश्वरको पहचानना चाहिए।

हम लोगोंने ईश्वरकी पहिचान गलत बना ली है। किसी व्यक्तिकी पहचानके लिए किसीने धोखेसे बता दिया कि उनकी ठुड्डीपर मसा है। अब वे व्यक्ति आये, पूछनेपर अपना परिचय दिया; किन्तु उनकी ठुड्डीपर मसा नहीं दीखा तो हमने उन्हें वह व्यक्ति मानना ही अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार ईश्वरकी गलत पहचान हमने बना ली है। जो चले, बोले, सुन्दर हो, दया करे वह ईश्वर। ऐसी गलत पहचान बनानेके कारण ईश्वर प्रत्यक्ष होकर भी हमें मिलता नहीं। अतः मूर्तिमें ईश्वरको पहचाननेका विधान शास्त्र करता है। ईश्वरका वर्णन है—'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' मूर्तिमें गुण दीखता है कुछ? वह निष्क्रिय है,

शान्त है, निष्पाप है और निर्दोष है। 'स्थालीपुलाकन्याय'से एक स्थानपर ईश्वरको पहचानना है।

'यदादित्यगतं तेजो' इन्द्रियोंकी, मनकी, वाणीकी सामर्थ्य वही परमात्मा है। वह सर्व रूपमें, सर्वत्र, प्रत्यक्ष विद्यमान है। 'मोकों क्या तू ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पासमें।' गोपी कहती है— 'माई मेरें श्याम लग्योई संग डोलै।' पहचान न होनेके कारण वह हमें मिल नहीं रहा है, अन्यथा वह तो 'हाजरा हुजूर, न निकट न दूर, सर्वत्र भरपूर' है।

यह हमारा अज्ञान, हमारा प्रमाद, हमारी असावधानी है कि हम परमात्माको पहचान नहीं रहे हैं। यह मनुष्य शरीर ऐसा है कि इसमें उसे पहचाननेकी योग्यता है। जीवन बीता जा रहा है, फिर पश्चात्ताप ही हाथ रहेगा। श्रीमद्भागवतमें आया है कि यदुवंशी अभागे थे; क्योंकि उन्होंने अपने मध्यमें रहते हुए भगवान् श्रीकृष्णको पहचाना नहीं। इसमें एक दृष्टान्त दिया है कि चन्द्रमा जब समुद्रमें था तो मछलियाँ उसे भी एक मछली ही समझती थीं। उन्होंने चन्द्रमाका अमृत पिया नहीं। चन्द्रमा जब आकाशमें चला गया, तब समुद्र भी उसके लिए उछलता है।

'दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥'

एक प्राचीन श्लोक है—

'आत्माम्बुराशौ निखिलोऽपि लोको
मग्नोऽपि नाचामति नेक्षते च।

आश्चर्यमेतन्मृगतृष्णिकाभे
भवाम्बुराशौ रमते मृषैव ॥'

यह सम्पूर्ण जीव-जगत् सच्चिदानन्दघन ब्रह्मस्वरूप आत्म-समुद्रमें डूब-उतरा रहा है, फिर भी न उस परिपूर्णतम आनन्द-का रसास्वादन करता है और न तो उसकी ओर देखता ही है। आश्चर्य तो यह है कि इस मृगतृष्णामें दीख पड़नेवाले जलके समान मिथ्या संसार सागरमें निष्प्रयोजन ही रम रहा है।'

ॐ

सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्निमें जगद्भासक तेजके समान ही पृथिवी, ओषधि आदिमें धारणशक्ति, तथा सोमरसके रूपमें भगवान् ही हैं, यह बात बताते हैं।

१३

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

पृथिवीमें प्रवेश करके मैं अपनी शक्तिसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ और रसात्मक सोम बनकर सभी ओषधियोंका पोषण करता हूँ।

'गामाविश्य' यह पृथिवी बैलके सींगपर नहीं टिकी है। यह तो एक प्रतीक है। बैल धर्मका प्रतीक है। 'धारणाद् धर्मः' धारण करनेकी शक्तिका नाम धर्म है। पृथिवी धारकशक्तिसे स्थिर है। यह गणित करके वैज्ञानिकोंने बताया है कि पृथिवी जहाँ है, वहाँसे एक फुट भी इधर-उधर होती तो न यहाँ ऐसे प्राणी होते न जल तथा जीवनकी यह अवस्था होती। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, तृण—सब पता नहीं, होते भी या नहीं। वर्तमान व्यवस्था चले, इस ठीक हिसाबसे पृथिवीकी स्थिति है।

एक कथा आती है कि एकबार अर्जुन और हनुमानजी मिले। अर्जुन श्रीकृष्णके भक्त और हनुमानजी श्रीरामके। बातचीतमें अर्जुनने कह दिया—'श्रीरामजीने पता नहीं, क्यों समुद्रपर सेतु बनानेके लिए बानर-भालुओंको कष्ट दिया। वे समुद्रपर बाणोंका पुल नहीं बना सकते थे। मैं होता तो बाणोंका पुल बना देता।'

हनुमानजी बोले—'द्वापरमें आजकल मनुष्योंका आकार छोटा हो गया है। उस समय जो आकार हम लोगोंका था, उसे बाणसे बना सेतु सम्हाल नहीं सकता था।'

अर्जुन हँस पड़े—'एक तो उस समयके आप ही हैं। मैं इस सरोवरपर सेतु बना देता हूँ। आप उसकी परीक्षा कर लें।'

अर्जुनने सेतु बनाया; किन्तु वह श्रीहनुमानजीके चरण रखते ही टूट गया। अर्जुन बहुत दुःखी हुए। उन्होंने श्रीकृष्णका स्मरण किया और फिर सेतु बनाया। इस बार हनुमानजी चढ़े तो सेतु टूटा नहीं, थोड़ा नीचे झुककर रह गया। हनुमानजी कूदकर नीचे आये और बोले—अर्जुन, तुम्हारे बाण मेरा भार नहीं सह सकते थे। यह तुम्हारे आराध्यका प्रभाव ही होगा।'

उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनकी पीठपर बाणोंके चिह्न थे। उन्होंने बताया कि अपनी पीठ लगाकर ही उन्होंने सेतुको टूटनेसे बचाया था। अब यह पृथिवी है, जिसपर नदी-समुद्र, वन-पर्वत, सारे प्राणी एक साथ रहते हैं, इसको कौन

धारण किये है ? भगवान् कहते हैं कि मैं 'ओजसा' अपनी शक्तिसे पृथिवीमें रहकर सब प्राणियोंको धारण करता हूँ।

'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' भगवान्की शक्तिसे यह पृथिवी दृढ़ है। पृथिवी देवी हैं। पृथिवीके तीन रूप हैं। एक यह पृथिवीमण्डल, दूसरी गौरूपा पृथिवी जो ब्रह्माके पास अपनी पीड़ा सुनाने जाती है। तीसरी भगवान् नारायणके साथ नित्य रहनेवाली भू देवी। पृथिवी भगवान्की पत्नी है। जैसे भगवान् शिव अर्धनारीश्वर हैं, वैसे ही पृथिवी भी भगवान्से नित्य आलिंगित है।

'पुष्णामि चौषधीः' ओषधि उसको कहते हैं जो दोष दूर करे और गुणका आधान करे। साबुन मैलको दूर करता है, वह शक्ति नहीं देता; किन्तु भोजन पुराने मलको निकालता है और शक्ति देता है। ओषधिमें अद्भुत शक्ति है। वन्ध्या स्त्री या पुंस्त्व-हीन पुरुषको ओषधि सन्तानोत्पादन योग्य बनाती है। इस प्रकार ओषधिमें मनुष्य उत्पन्न करनेकी क्षमता है।

रसात्मक सोम चन्द्रमा है। चन्द्रमासे ही सब ओषधियाँ पुष्ट होती हैं। सोम एक ओषधि भी है। उसे ओषधियोंका राजा कहते हैं। वैदिक यज्ञमें उस सोमका रसपान किया जाता है।

'अपाम सोमममृता बभूम।'

चन्द्रमा पर निर्भर होनेके कारण सोमका यह नाम पड़ा है। कहा जाता है कि सोम अमावस्याको बिना पत्तेके हो जाता है।

फिर प्रतिपदाको उसमें एक पत्ता आता है। चन्द्रमाकी एक-एक कला-वृद्धिके साथ उसके पत्ते बढ़ते हैं और पूर्णिमाको उसमें पन्द्रह पत्ते होते हैं। फिर चन्द्रमाकी कला घटनेके साथ उसके एक-एक पत्ते गिरते जाते हैं।

सोमका मुख्यार्थ चन्द्रमा है। चन्द्र रसात्मक है। जहाँ-जहाँ रस है—दूर्वामें, अंगूर, आम, गेहूँ, जौ, चना, चावल आदिमें सर्वत्र रस-रूपमें वह परमात्मा ही है।



• *संगति*

'सोमो भूत्वा रसात्मकः'से भगवान्‌ने बताया कि समस्त जीवधारियोंके आहार वही हैं। अब बता रहे हैं कि उस भोजनके भोक्ता भी वही हैं।

१४

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

प्राणियोंके शरीरका आश्रय लेकर मैं वैश्वानर बनकर प्राण और अपानसे युक्त हुआ चारों प्रकारके आहार पचाता हूँ।

व्रजके भगवान् तो भोजनके बड़े प्रेमी प्रसिद्ध ही हैं। वे तो चोरी करके दूसरोंके घरका दही-माखन खा लेते हैं। इससे तृप्ति नहीं हुई तो उन्होंने सोचा कि सबके घरका और बहुत अधिक भोजन एक साथ करना चाहिए। इसके लिए स्वयं ही पुजारी और स्वयं ही देवता बने तथा स्वयं सब व्रजवासियोंको कहकर खूब भोजन बनवाया सब घरोंमें। गोवर्धन-पूजनकी लीला श्रीकृष्णचन्द्र-की भोजन-लीला ही तो है। लेकिन ऐसे भोजन कहीं पूरा होता है? अतः सब प्राणियोंका भोजन ग्रहण करनेकी युक्ति की उन्होंने।

'प्राणिनां देहमाश्रितः' केवल ब्राह्मणके देहमें नहीं, केवल साधुके देहमें नहीं, केवल मनुष्यके देहमें भी नहीं, समस्त प्राणियों-के देहमें—आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त जितने देहधारी हैं सबके शरीरमें वैश्वानर अग्नि बनकर भगवान् विराजमान हो गये हैं।

प्राणियोंका भोजन तो शुद्ध भी है और अशुद्ध भी; किन्तु अग्नि सर्वभक्षी है। यज्ञमें इन्द्रादि देवताओंके नामपर पड़ी आहुति भी अग्नि ग्रहण करता है और चिताग्निके रूपमें शव भी खा लेता है। अग्निको दोष नहीं होता।

'वैश्वानरः' विश्वनर अर्थात् विश्वपुरुष ही वैश्वानर है।

जो सबके शरीरमें बैठा है, वही वैश्वानर है। ईश्वरसे जो भिन्न प्रतीत हो रहा है, इस प्रतीतिको ही वेदान्तमें माया कहते हैं। है यह भी ईश्वर ही; किन्तु हम उसे पहचान नहीं पाते। सत्तामें वही नाम-रूपसे प्रतीत होता है और कर्ता तथा कर्तव्य बना है, चित्तत्त्वकी दृष्टिसे वही द्रष्टा और दृश्य दोनोंके रूपमें भासमान है और आनन्दकी दृष्टिसे वही भोक्ता और भोग्य हो रहा है। परमात्मा सर्वत्र एक ही है।

माण्डूक्य उपनिषद्में जाग्रत्के अभिमानीको वैश्वानर कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि जाग्रत्का अभिमानी और जाग्रत्का सब दृश्यमान प्रपञ्च भगवान् ही है। भगवान् तुम्हारे भीतर बैठा है। जब तुम भोजन करते हो तो वह अपना छोटा-सा हाथ बढ़ाकर भोजनका प्रत्येक ग्रास अपने मुखमें रखता जाता है। भोजन तुम करते हो और पहुँचता वह भगवान्के मुखमें है।

'प्राणिनां देहमाश्रितः' भगवान् सबके आश्रय हैं; किन्तु यहाँ वे प्राणियोंके शरीरके आश्रित होकर बैठे हैं। जब देहके आश्रित हो गये, तब सहायक भी चाहिए। 'प्राणापानसमायुक्तः' प्राण और अपानवायु उनके सहायक बन गये। अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए वायुकी आवश्यकता होती है। पहिले लुहार चमड़ेकी बनो 'भस्त्रा (भाथी)से हवा करते थे। अब तो हवा देनेकी मशीन बन गयी है।' अग्निका सारथि वायु है। बाहरकी अग्नि भाथीसे, नलिका द्वारा फूँकसे या मशीनसे हवा देकर प्रज्वलित की जाती है; किन्तु शरीरमें जो अग्नि है, वह प्राण-अपानसे प्रज्वलित होती है।

अग्नि भगवान्‌का मुख है। यज्ञमें देवताओंके लिए अग्निमें आहुति दी जाती है। नाम देवताओंका लिया जाता है और आहुति भगवान्‌के मुखमें पड़ती है। श्रुतिने जैसे 'मुखादग्निरजायत'के द्वारा अग्निको भगवान्‌का मुख बतलाया, वैसे हो ब्राह्मणको भी भगवान्‌का मुख कहा है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' ब्राह्मणको भोजन करानेसे भगवान् तृप्त होते हैं। यह शास्त्रकी व्यवस्था कर्ताके चित्तकी शुद्धिके लिए है। शास्त्र न तो अधिभूत पदार्थमें और न अधिदैवमें ही परिवर्तन करता है। वह तो भावना-निर्माण करके अध्यात्मका—हमारे चित्तका शोधन करता है।

'केवलाघो भवति यः केवलादी' जो अकेले खाता है, वह तो पाप खाता है। भोजनकी शुद्धि तभी होती है, जब उसमें-से अतिथिको, गौको, पक्षियों तथा चींटियों आदिको भाग देकर भोजन किया जाय। वैश्वानर रूपमें भगवान् भोक्ता हैं, उन्हें भी अकेले भोजन नहीं करना चाहिए। वे प्राण-अपानके साथ भोजन करते हैं।

'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' भोजन चार प्रकारका होता है— १–भक्ष्य (चर्व्यं), जिसे दाँतसे चबाकर खाना पड़ता है। २–चोष्य जिसे चूसा जाता है, जैसे गन्ना आदि। ३–भोज्य (पेय), जिसे बिना दाँतसे चवाये पी लेते हैं, जैसे दूध या फलोंके रस। ४–लेह्य, जिन्हें चाटना पड़ता है, शहद-चटनी आदि। ये भेद सभी प्राणियों-के भोजनोंके किये जा सकते हैं। दूसरे भी चार प्रकारके भोजन होते हैं। १. पृथिवीतत्त्व-प्रधान भोजन अन्न, फल, आदि जो मनुष्य तथा पशु-पक्षीका भोजन है। २. जलतत्त्व प्रधान, कुछ जलजीवों तथा चातकका भोजन। ३. अग्नितत्त्व प्रधान भाजन—सूर्यके रथके सम्मुख सूर्य भगवान्‌की स्तुति करते हुए चलनेवाले बालखिल्य ऋषि सूर्यकी किरणों का हो आहार ग्रहण करते हैं। चकोर अग्नि खाता है, यह भी जनश्रुति है। ४. वायुतत्त्व प्रधान आहार—कहा जाता है कि सर्प महीनों तक केवल वायु पोकर जीवित रह सकता है। पुराणोंमें केवल जल या केवल वायुके आहारपर दीर्घकालतक रहनेवाले तपस्वियोंका वर्णन है। योगी पृथिवीतत्त्व-प्रधान आहार छोड़कर जल, वायु या अग्निके आहारपर रह सकता है। इस प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—ये चारों तत्त्व आहार बनते हैं। आकाश किसीका आहार नहीं बनता। इन तत्त्वासे बने चतुर्विध आहारको वैश्वानरके रूपमें भगवान् ही पचाते हैं। जिसका जो भोजन है, उसीके भोक्ताके रूपमें परमात्मा है।

श्रीशंकराचार्यजीने लिखा है कि जो भोजनके समय भोजनको सोम और भोक्ताको वैश्वानरके रूपमें स्मरण कर लेता है, उसे अन्नदोष नहीं लगता।

भोजनमें—अन्नमें चार प्रकारके दोष हैं :—

१. स्वभाव-दोष—जो पदार्थ स्वरूपसे ही दूषित है, जैसे मांस, सड़ाये हुए पदार्थ सड़ाँद (शराब)। मनुस्मृतिमें कहा है—

'लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
एतान् जग्ध्वा द्विजो मोहात् प्राजापत्येन शुद्ध्यति ॥'

लशुन, शलजम, प्याज और छत्राक (बरसातमें उगनेवाला छत्ता) इनको खानेपर द्विज अपवित्र हो जाता है और प्राजापत्य व्रत करनेपर शुद्ध होता है।

२. निमित्त दोष—भोजन तो शुद्ध था, पदार्थमें दोष नहीं था; किन्तु उसमें बाल पड़ गया, छिपकली गिर गयी, पक्षीने बीट कर दिया। इस प्रकार कोई अशुद्ध निमित्त बन गया तो वह दूषित हो गया।

३. आश्रय दोष—भोजन बनानेवाला बहुत गन्दा था, बर्तन जूठे थे, इस प्रकार जिस व्यक्ति या पात्रसे भोजन बना, उस व्यक्ति या पात्रके दोष भोजनमें आगये।

४. स्वत्त्वदोष—भोजन अपनी ईमानदारीके पैसेसे नहीं बना है। यह द्रव्य-दोष सबसे बड़ा दोष माना जाता है।

अब यदि तुम अपने लिए भोजन बनाते हो तो चाहे जैसा भोजन कर लोगे; किन्तु यदि भगवान् भोग लगायेंगे, यह भावना रहेगी तो भोजनमें कोई दोष नहीं आने पायेगा।

जैसे भोजनमें चार दोष नहीं होने चाहिए, वैसे ही चार गुण भी होने चाहिए। १. सौरभ्य—भोजनसे उत्तम गन्ध निकलनी

चाहिए, जो भोजन करनेवालेको प्रसन्न कर दे। २. सौरूप्य—देखनेमें भोजनका रंग-रूप सुहावना होना चाहिए। ३. सौरस्य—भोजन स्वादिष्ट होना चाहिए और ४. सौहित्य—भोजन शरीरको लाभदायक हो और हृदयमें सद्भाव, उत्तम बुद्धि उत्पन्न करनेवाला हो। अनार, अंगूर, गेहूँ आदिसे जो बुद्धि बनेगी, वह पशु-देहसे बनी बुद्धिसे भिन्न तो होगी ही। वृन्दावनमें एक महात्माने मुझे पेड़ा लाकर दिया और कहा कि 'प्रसाद है।' मैंने उसे खाया और उनको बताया—'यह भगवान्‌का प्रसाद नहीं था।' दूसरे दिन वे फिर पेड़ा ले आये। उसे खाकर मैंने कहा—'यह भगवान्‌का प्रसाद है।' जिससे तुलसीकी गन्ध न आवे, वह भगवान्‌का प्रसाद कैसा? जो भगवान्‌का प्रसाद खाता है, भगवान्‌को अर्पित करके खाता है, उसकी बुद्धि भगवान्‌में लगती है।



'यदादित्यगतं तेजो'से भगवान्‌ने बताया कि तुम जो कुछ देखते हो, वह रूप मैं हूँ। 'यच्चन्द्रमसि'से सूचित किया कि जो तुम सोचते हो, वह मैं हूँ। 'यच्चाग्नौ'से समझाया कि जो बोलते-सुनते हो, वह मैं हूँ। 'गामाविश्य च भूतानि'के द्वारा कहा कि तुम मेरी गोदमें हो। 'सोमो भूत्वा रसात्मकः'से सूचित किया कि तुम्हारा आहार मैं ही हूँ और 'अहं वैश्वानरो'में बता दिया कि तुम्हारे भीतर भोक्ता भी मैं ही हूँ। भगवान् केवल उदरमें ही नहीं, सबके हृदयमें बैठे हैं।

अथवा भगवान्‌ने सबमें अपनी पहचान बताना प्रारम्भ किया था कि मैं सूर्य, चन्द्रमा, अग्निमें तेज हूँ। मैं प्राणियोंके भीतर वैश्वानर हूँ। पृथिवीमें धारक शक्तिके रूपमें हूँ। लेकिन इस प्रकार एक-एक वस्तुका नाम लेकर वर्णन नहीं किया जा सकता था। वस्तुएँ तो असंख्य हैं। इसलिए भी अब एक साथ सबके ही भीतर मैं हूँ, यह कह रहे हैं।

१५

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

सबके हृदयमें मैं सन्निविष्ट हूँ। मुझसे ही सबको स्मृति, ज्ञान और दोनोंका लोप होता है। सभी वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदान्तका कर्ता तथा वेदोंका ज्ञाता भी मैं ही हूँ।

'सर्वैरेव वेदैरहमेव वेद्यः' 'अहं वेदैरेव वेद्यः' 'अहमेव वेद्यः' और 'अहं वेद्य एव' इस प्रकार 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'का चार प्रकारसे अन्वय होता है। इसका अर्थ है—सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ अर्थात् सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य मुझमें ही है। मैं केवल वेदोंसे ही जाना जाता हूँ अर्थात् मेरे सम्बन्धमें वेद ही प्रमाण हैं, प्रत्यक्षादि नहीं। मैं ही जानने योग्य हूँ, घट-पटादि नहीं। मुझे इसी जीवनमें जानना ही चाहिए, अन्यथा जीवन ही व्यर्थ चला जायगा।

'हृदि सन्निविष्टः' विष्टका अर्थ है घुसा हुआ। निविष्टका अर्थ हुआ नितरां प्रविष्ट और सन्निविष्टका अर्थ हुआ सम्यक् रूपसे प्रविष्ट अर्थात् पहलेसे ही विद्यमान, बादमें प्रवेश किया, ऐसा नहीं।

'सर्वस्य' केवल ब्राह्मण, संन्यासी, योगी या भक्तके ही हृदय में नहीं, सबके—प्राणिमात्रके हृदयमें परमात्मा भली भाँति प्रविष्ट है। अपने हृदयमें चेतन रूपसे उस परमात्माका अनुभव करो। नेत्रमें होकर रूपकी ओर मत जाओ, हृदयकी ओर आओ। कानमें होकर शब्द की ओर मत जाओ, हृदयकी ओर आओ। 'हृत्'-का अर्थ है आहरक। जो नेत्र, कर्ण, नासिका, त्वचा, रसनाके द्वारा उपलब्ध सब ज्ञानको खींचकर अपनेमें रख ले, उसका नाम हृदय है।

उस हृदयदेशमें जो सत्ता है, उसकी ओर चलना है। वह नेत्रसे नहीं दीखता। नेत्रोंपर जोर मत डालो। कान बन्द करने-

से, नाक बन्द करनेसे उसे नहीं देखा जाता। यह तो योगकी प्रणालियाँ हैं। कोई एक बन्ध करते हैं, कोई द्विबन्ध करते हैं, कोई त्रिबन्ध तो कोई चतुर्बन्ध करते हैं। आसन से बैठते समय दोनों पैरोंकी एड़ियोंसे नीचेके दोनों द्वार दवा लेते हैं। दोनों हाथके अँगूठोंसे दोनों कान, दोनों तर्जनीसे दोनों नेत्र, दोनों मध्यमासे दोनों नासापुट और अनामिका तथा कनिष्ठिकासे मुख दबाकर ध्यान करते हैं। यह चतुर्बन्ध कहा जाता है। लेकिन यह सब वन्द करनेकी आवश्यकता नहीं है। मनसे हृदयमें चलो। ईश्वर सीधा-सादा है। उसकी प्राप्तिके लिए दाँव-पेंचकी आवश्यकता नहीं है। वह तो जीवनकी वस्तु है।

तीर्थयात्राके समय जब मैं अरुणाचलम् गया था, तव महर्षि रमणने कहा—'ध्यान करो।' यह पूछनेपर कि किसका ध्यान किया जाय, उन्होंने वताया—'ध्यान करनेवालेका ही ध्यान करो।' जैसे बहुत-से सत्संगी 'सोऽहं'का ध्यान करते हैं, वैसे ही महर्षि रमण 'कोऽहं'के ध्यानपर वल देते थे। वेदान्तमें जैसे 'तत् पदार्थ' और 'त्वं' पदार्थका शोधन करके दोनोंके एकत्वका ज्ञान आवश्यक माना जाता है, यह रमण महर्षिकी पद्धति नहीं थी। वे केवल 'त्वं' पदार्थके चिन्तनपर जोर देते थे। ध्यान कहाँ किया जाय? इसका उत्तर उन्होंने दिया—'हृदयमें।'

परमात्मा शरीरमें कहाँ है? इस सम्वन्धमें सर्वथा विपरीत धारणाएँ प्रचलित हैं। जो साधक वाणीके क्रमसे साधन करते हैं, वे मानते हैं कि वैखरी वाणी कण्ठमें है, मध्यमा हृदयमें, पश्यन्ती नाभिमें और परा वाणी मूलाधार में। उस परा वाणीमें ही परमात्मा प्रकाशित हो रहा है। लेकिन जो कुण्डलिनी योगके

साधन हैं, वे मूलाधारसे कुण्डलिनीको जाग्रत् करके स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि चक्रोंमें होते हुए भ्रूमध्यके आज्ञाचक्रसे ऊपर मूर्धामें—सहस्रारचक्रमें गुरुका दर्शन करते हैं और उससे ऊपर परमात्माका निवास मानते हैं। अब परमात्मा कहाँ है—मूलाधारमें या सहस्रारमें ?

मेरे मनमें एक बार विचार आया कि परमात्मा किस हृदयमें है। इस शरीरके भीतर जो एक हृदय है, क्या उसीमें; लेकिन मैंने अस्पतालमें रक्तकी जाँचके समय देखा था कि रक्तकी एक बूँदमें लाखों कीटाणु हैं। वे सब सजीव हैं। वे चलते हैं, खाते हैं, वंश-वृद्धि करते हैं। उन सबमें भी तो हृदय है। उनके हृदयमें भी परमात्मा है; क्योंकि वे भी प्राणी हैं। इस देहके एक बूँद रक्तमें लाख-लाख कीटाणु और पूरे देहमें कितने होंगे ? सबमें हृदय हैं, सब हृदयोंमें परमात्मा है। परमात्मा हमारे अणु-अणुमें भरपूर है। इस परमात्माको 'चिन्वता मज्जता वा' ढूँढ़ना है या उसमें डूबना है। भक्तिके द्वारा उसमें डूबना होता है और विवेकके द्वारा उसे ढूँढ़ना होता है। उसे हृदयमें ढूँढ़ना है। रक्तसे सूक्ष्म वीर्य है। वीर्यसे सूक्ष्म मन है। मनमें जो समस्त मनोवृत्तियोंके केन्द्रमें बैठा है, वह अधिष्ठान चित्-सत्ता परमात्मा है।

एक देहमें अनन्त जीव हैं और उनके अनन्त हृदय हैं; किन्तु हमारे लिए तो एक हृदयमें है। इसी हृदयमें हमें परमात्माका ध्यान करना है। जो ध्यान नहीं करेगा, उसकी वासना नहीं मिटेगी। परमात्माका ध्यान जो नहीं करता, उसका ज्ञान अधूरा रहता है। उसका न 'तत्' पदार्थका शोधन हुआ और न 'त्वं' पदार्थका। उसके मल-विक्षेपकी निवृत्ति भी नहीं होती। उसे तो ज्ञानका मिथ्याभिमान मात्र होता है। अतः परमात्माका ध्यान तो हमारे लिए आवश्यक ही है।

भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा कि प्रभो ! आप कहाँ रहते हो ? आपसे मिलना हो तो कहाँ जायँ ? तो उन्होंने बताया 'मैं हृदयमें रहता हूँ ।' दूसरा प्रश्न हुआ—'किसके हृदयमें आप रहते हैं ?' इसका उत्तर मिला—'सबके हृदयमें ।'

शरीरके भीतर एक-एक रक्तकी बूँदमें, मांस-हड्डीके प्रत्येक कणमें लाखों जीवाणु हैं । शरीरके बाहर आप जो जल पीते हैं, अन्न खाते हैं, उनमें लाखों जीवाणु हैं । यन्त्रसे देखनेपर उनमें असंख्य कीट दीखते हैं । इसीलिए कहा है—'जीवो जीवस्य जीवनम् ।' जीवका जीवन ही जीवोंपर निर्भर है । हम नेत्रसे देख नहीं पाते, अतः उन जीवाणुओंकी हिंसाका दोष नहीं लगता ।

यन्त्रसे आप भले न देखें; किन्तु यह तो जानते ही हैं कि अन्न, फल, दूध ये सब कुछ दिन रखे रहें तो सड़ जाते हैं । उनमें कीड़े पड़ जाते हैं । यदि उनमें पहिलेसे कीड़ोंका बीज न हो, संस्कारविशिष्ट अन्तःकरण न हो तो कीड़े उत्पन्न ही कैसे हों ? सम्पूर्ण जड़ता एवं चेतनता जो आपको जान पड़ती है, उस सबके कण-कण में चेतना व्याप्त है । जिसे आप चेतन अणु कहते हैं, वह होशमें है और जिसे जड़ अणु कहते हैं, वह बेहोश—सुप्त है । होशवाला अणु बेहोश और बेहोश अणु होशमें आता ही रहता है । इस प्रकार प्रत्येक अणुके हृदयमें भगवान् हैं । प्रत्येक वस्तुकी सूक्ष्मावस्थामें परमात्मा है । वह पत्थरके टुकड़ोंमें तथा मनुष्योंमें समान रूपसे स्थित है । जैसे अध्यस्तमें अधिष्ठान व्याप्त है,

प्रकाश्यमें प्रकाशक व्याप्त है, वैसे ही परमात्मा समस्त पदार्थोंमें उनके अधिष्ठानके रूपमें स्थित है।

हृदय जिस 'हृ' धातुसे बना है, उसीसे हर और हरि शब्द भी बनते हैं। नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियोंसे आया हुआ ज्ञान जहाँ एकत्र होता है, जहाँसे इस ज्ञानकी स्मृति जागती है, वह हृदय है। जहाँसे संस्कारका उदय होकर सृष्टि होती है, जहाँ संस्कारोंका पालन होता है और जहाँ सब संस्कार प्रवेश करके लीन हो जाते हैं, वह हृदय है। सृष्टिके पालक हरि तथा संहारक हरका यही ध्यान है।

अपने उस हृदयमें चलना है परमात्माकी प्राप्तिके लिए। जहाँ तुम्हारी बुद्धिकी वृत्तियोंका उदय होता है, वहाँ जाना है। कुछ लोग हृदयमें गन्धकी संवित् जगाते हैं। गन्धकी लहरें जैसे उठ रही हैं, ऐसी भावना करते हैं। कुछ लोग रसकी, कुछ स्पर्शकी, कुछ रूपकी और कुछ लोग शब्दकी संवित् जगाते हैं। यह सब उपासनाके मार्ग हैं। योगके ये साधन हैं। जितने साकार ध्यान या ज्योतिर्ध्यान हैं, रूपकी संवित्के साधन हैं। शब्दके साधन झिल्ली, झंकार, घंटानाद, शंखध्वनि, वंशीध्वनि, मेघगर्जन आदि सुनते हैं। कुछ लोग सिद्धिकी संवित् और कुछ कर्मकी संवित् जगाते हैं। चेतनके साथ जब हृदयकी वृत्ति जुड़ती है तो वह अनन्त हो जाती है। जब गन्धकी वृत्तिसे चेतन जुड़ेगा तब मैं ही सम्पूर्ण पृथिवी हूँ—यह अनुभव करेगा। इसी प्रकार रसके साथ जुड़नेपर अपनेको जल स्वरूप अनुभव करेगा। मनके साथ अहं एकात्मता प्राप्त करेगा तो स्वर्ग, ब्रह्मलोकादिके सम्पूर्ण आनन्दका अनुभव करेगा। 'अहं' तत्त्वके साथ जुड़ेगा तो ऐश्वर्यका अनुभव

करेगा और वृत्तियोंके अभावमें तादात्म्य करेगा तो समाधिमें स्थित हो जायगा।

इन वृत्तियोंके अभावको भी छोड़कर जो है, जो इस अभावका प्रकाशक है, जिसमें यह अभाव भासित हो रहा है, वह ब्रह्म है। वह सर्वावभासक, सर्वाधिष्ठान, सबके हृदयमें–सबकी सूक्ष्मतामें स्थित है।

भगवान् सबके हृदयमें हैं तो किस रूपमें हैं? इसका उत्तर भगवान्‌ने दिया—'अहं' अर्थात् सबके अहमर्थके रूपमें। तब फिर पूछा गया—'आप दीखते क्यों नहीं हैं?'

भगवान्‌ने कहा—'सन्निविष्टः' अत्यन्त निकट हैं—अपने-आपके रूपमें ही हैं, इसलिए नहीं दीखते। अपना नेत्र किसीको अपने नेत्रसे दीखता है? दर्पणमें तो नेत्रका प्रतिबिम्ब दीखता है। नेत्र नहीं देखा जा सकता। भगवान् अपने 'अहं'के रूपमें हैं—सन्निविष्ट हैं, अतः देखे नहीं जा सकते।

भगवान् हृदयमें बैठे करते क्या हैं? इसका उत्तर दिया—'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।' 'मत्तः' शब्दके दो अर्थ होते हैं, एक 'मुझसे' और दूसरा 'मतवाला'। जैसे एक भक्त प्रार्थना करता है—'त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तः परः।' हे यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र! आपसे अधिक कोई दयानिधान नहीं है और मुझसे अधिक कोई मतवाला–प्रमादी भी नहीं है। क्योंकि जो अनादि कालसे अपने साथ है, जो कभी क्षणभरको साथ छोड़कर जाता नहीं और अनन्त साथी है, उसे हमने पहचाना नहीं। इससे बड़ा मतवालापन जीवका और क्या हो सकता है? इसीको प्रमाद कहते हैं।

परमात्मा 'स्मृतिः' पुराने संस्कारोंको जगा देता है 'ज्ञानं' इन्द्रियोंमें-मनमें स्थित होकर विषयका ज्ञान कराता है—विषयको प्रकाशित कर देता है और 'अपोहनं च' दोनोंको मिटा देता है।

गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषदोंका भाष्य श्रीमद्भागवत है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे किसीने प्रस्थानत्रयीपर भाष्य करनेको कहा तो महाप्रभुने उत्तर दिया—'श्रीमद्भागवतरूप महान् भाष्य जब है ही, तब दूसरे भाष्यकी क्या आवश्यकता है ? उस श्रीमद्भागवतमें इस श्लोकका भाव इस प्रकार दिया है—

'त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः।'

हे प्रभो ! आपके द्वारा ही जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी शक्तिसे ही उसका लोप भी होता है।

'स्मृतिः' इन्द्रियोंके द्वारा, मनकी कल्पनासे, बुद्धिके विवेकसे जो ज्ञानका संस्कार चित्तपर पड़ा, वह भगवान्‌की शक्तिसे जाग जाता है। बहुत-से लोगोंको पूर्व जन्मकी स्मृति भी होती है। अनेक बालकोंको पूर्व जन्मका स्मरण रहता है, यह बात तो है ही, बहुत-से साधकोंको भी पूर्वजन्मका स्मरण हो जाता है। योगदर्शनमें आया है—'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्ता संबोधः'।

शुद्ध ब्रह्ममें यह शरीर कैसे बना ? मायासे। माया कैसे बनाती है ? कहना पड़ेगा कि पूर्व-पूर्व कर्म संस्कारके अनुसार। इसलिए जो योगी होते हैं, वे पूर्व जन्मके संस्कारोंको जान लेते हैं। मनका संयम करके बचपनमें कैसे थे, इसका स्मरण किया। धीरे-धीरे उत्पन्न होनेके समयकी स्थिति, गर्भकी स्थिति आदिमें

मनका सयम करते हुए पूर्व जन्मका योगी कर लेता है। स्मृतियोंका यह उत्थान परमात्माके सान्निध्यसे ही होता है। परमात्मा ही उन संस्कारोंको जगाकर सिनेमा देखता है।

'ज्ञानम्' बुद्धिसे, मनसे और ज्ञानेन्द्रियोंसे जो ज्ञान मिलता है। वह कैसे आता है? वह भी हृदयमें बैठा परमात्मा ही देता है। उसीके प्रकाशमें बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ कार्यशील होती हैं।

'अपोहनं च' स्मृति और ज्ञान दोनोंको परमात्मा ही प्रसुप्त भी कर देता है।

भगवान् शंकराचार्य इसका अर्थ करते हुए कहते हैं कि जो लोग धर्म-संस्कारसम्पन्न—धर्माचरणशील हैं, उन्हें ईश्वर अपनी स्मृति और अपना ज्ञान देता है और जो लोग धर्मसंस्कारसम्पन्न नहीं हैं, विषयाराम—पामर हैं, उनके स्मृति और ज्ञानपर वह पर्दा डाल देता है।

श्री रामानुजाचार्यजी कहते हैं कि भगवान् स्मृति देते हैं, ज्ञान देते हैं और ऊहन अर्थात् तर्कशक्तिको दूर करके श्रद्धा भी देते हैं। कुछ लोग 'अपोहन'का अर्थ जड़त्व भी करते हैं। ईश्वर जीवको स्मृति तथा ज्ञान हो, ऐसी योनि देता है और स्मृति तथा ज्ञान न रहे, ऐसी जड़ योनि भी देता है।

देखना यह है कि परमात्मा यह सब कहाँ बैठकर देता है। वह सबके हृदयमें बैठकर देता है। इसलिए उसके बैठनेके स्थानको देखते हुए यह अर्थ निकलता है कि हृदयमें रज:प्रधान, स्मृतिरूप जो तैजसकी स्वप्नावस्था है, वह परमात्माके प्रकाशसे है।

परमात्माके प्रकाशसे ही तैजस स्वप्न देखता है। परमात्माके प्रकाशसे ही विश्व जाग्रत्‌में विषयोंका ज्ञान प्राप्त करता है और परमात्माके प्रकाशमें ही जाग्रत्‌के ज्ञान तथा स्वप्नकी स्मृति दोनों-का लय करके सुषुप्तिमें—प्राज्ञमें स्थित रहता है। जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति आती-जाती रहती हैं; किन्तु परमात्मा एकरस, अखण्ड रहता है।

'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष परः॥'

उपद्रष्टा, अनुमन्ता, स्वामी, भोक्ताके रूपमें जो सर्वेश्वर परम पुरुष इस देहमें ही स्थित है, वही परमात्मा है। वही पुरुषोत्तम है। वह स्मृति, ज्ञानको न जगाता, न मिटाता। ये कार्य उसकी उपस्थितिसे ही हो जाते हैं। जैसे कारखानेके स्वामीके बैठे रहनेसे ही कारखानेके सब काम ठीक-ठीक चलते रहते हैं। परमात्मा निर्विशेष रूपसे स्थित है। निर्विशेषका अर्थ ही है निर्भेद; क्योंकि जहाँ विशेषता होगी, वहाँ भेद उत्पन्न होगा। जिसमें जो विशेषता होगी, वह विशेषता उसे दूसरोंसे पृथक् करेगी।

अपोहनका एक अर्थ है तर्क—ज्ञान तथा स्मृतिसे उलटा—'अपगतं ऊहनम् अपोहनम्'। स्मृति तथा ज्ञान जिनको प्रकाशित करते हैं, वे जहाँ प्रकाशित न हों।

सबके हृदयमें, सर्वाधिष्ठान रूपसे, अत्यन्त समीप, स्मृति, ज्ञान तथा अपोहनके प्रकाशकरूपमें परमात्मा स्थित है। तब वह पहचानमें क्यों नहीं आता? इसका उत्तर है कि पहचान कराने-

वाला-लखानेवाला कोई हो तब वह पहचानमें आये। बिना लखानेवालेके उसे पहचाना नहीं जा सकता।

दुर्योधनके सामने ही श्रीकृष्ण थे; किन्तु वह कहाँ पहचान सका? महाभारतमें वर्णन है कि जब सन्धिदूत बनकर श्रीकृष्ण कौरवोंकी सभामें गये तो दुर्योधनने उन्हें बन्दी कर लेनेकी मन्त्रणा की। दुःशासनने सब तैयारी कर ली। लेकिन श्रीकृष्णको कोई बाँध सकता है? मैया यशोदाने बाँधा था, पर यहाँ भी 'कृपयासीत् स्वबन्धने' कहा गया है। वे अपनी कृपाके बन्धनसे ही बँधे। बलपूर्वक भला परमात्मा कहीं बाँधा जाता है?

अब परमात्माको लखाये कौन? आचार्य—गुरु लखायेगा! आचार्यके द्वारा प्राप्त विद्या ही परमात्माका साक्षात्कार करा सकती है। केवल पुस्तकीय ज्ञानसे परमात्माका अनुभव नहीं होता। कोई लड़की एम. ए करके आयी। उसने पाकशास्त्र पढ़ा था। उससे हलवा बनानेको कहा गया। उसने चूल्हेपर कड़ाही चढ़ाई, घी डाला और घीका जबतक टैम्परेचर ले, तबतक वह इतना गरम हो गया कि सूजी डालते ही जल गयी। यह पुस्तकीय विद्याकी दशा है। अनुभव न हो तो पुस्तकीय विद्या व्यर्थ रहती है।

आचार्य भी बहुत प्रकारके हैं! एक दृष्टान्त है कि किसीकी नाक किसी कारण कट गयी थी। नाक कटनेका कारण पूछनेपर उसने कहा—'परमात्मा तो दोनों नेत्रोंकी ही सीधमें प्रत्यक्ष है। केवल नाककी नोक बीचमें आनेसे दीखता नहीं। नाककी नोक मैंने कटवा दी तो उसके दर्शन होने लगे। तुम्हें भी परमात्माके दर्शन करने हों तो नाक कटवा डालो।'

नाक कटवानेसे कष्ट हुआ सो हुआ ही, ईश्वर भी नहीं दीखा; किन्तु उसने नाक कटवानेवालेसे कानमें कहा—'अब तो कट गयी ! 'ईश्वर नहीं दीखता' कहोगे तो मूर्ख माने जाओगे।' अब उस व्यक्तिने भी कहना प्रारम्भ किया कि 'मुझे ईश्वर दीखता है।' इस प्रकार लोग नाक कटवाते ही चले गये।

'दम्भिन निज मत जल्पिकर, प्रगट किये बहु पन्थ।'

इसलिए वेदविद्याके बिना आचार्यत्व पूरा नहीं होता। आचार्यका लक्षण बतलाया गया है—'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि' चर्यासे आचार्य शब्द बना है। जो स्वयं शास्त्रवर्णित आचरण करे और अपने अनुगतको भी शास्त्रीय मर्यादामें लगाये, उसे आचार्य कहते हैं। अतः वेदप्रतिपादित ज्ञान जिसे प्राप्त है, वही सद्गुरु है।

अब फिरसे श्लोकके उत्तरार्धपर ध्यान दे लें। क्योंकि वेदप्रतिपादित ज्ञान जिसे प्राप्त है, वह क्या लखायेगा ? वेदोंमें जो ज्ञान होगा, वही। वेदोंमें क्या है ? वेदका तात्पर्य किसमें है ? इसीका उत्तर श्लोकके उत्तरार्धमें है।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' इसमें 'एव' अवधारण है, अतः इसका अन्वय सबके साथ होना चाहिए। 'सर्वैर्वेदैरेव अहं वेद्यः' सब वेदोंके द्वारा ही मैं जाना जाता हूँ अर्थात् वेदको छोड़कर परमात्माको जाननेका दूसरा कोई साधन नहीं है। जो वेदको नहीं जानता, वह परमात्माको नहीं जानता। मनुष्यका अन्तःकरण संस्कारशून्य नहीं होता, उसमें पूर्व-पूर्वजन्मके संस्कार तथा

वासनाएँ होती हैं। अतएव मनुष्यका अपना अनुभव, अपना विवेक उन संस्कारोंके प्रभावसे रहित नहीं हो सकता। इसलिए अन्तःकरण-शुद्धिपूर्वक, मल-विक्षेप रहित होकर तत्त्वमस्यादि महावाक्य-श्रवणजन्य जो ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान है, वही परमात्माका सच्चा ज्ञान है।

'न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो ह्यणुरेष धर्मः।'

यह धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः किसी मनुष्यके द्वारा जो शास्त्रसे नीचे है, यह जानने योग्य नहीं है।

'सर्वैरेव वेदैरहं वेद्यः' सम्पूर्ण वेदोंसे ही मैं जाना जाता—प्रतिपादित होता हूँ। वेदोंका कोई भी अंश त्याज्य नहीं है। वेद त्रिकाण्डात्मक होते हुए भी और अवान्तर दृष्टिसे कर्मोपासनाका प्रतिपादन करते हुए भी वस्तुतः मेरा ही प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्म और आत्माकी एकता ही उनका विषय है।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।' सम्पूर्ण वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं और सभी साधनोंका जो फल है, वह परमात्मा है। वेदमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, मातरिश्वा आदि नामोंसे अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंका प्रतिपादन नहीं है। इन नामोंसे परमात्माका ही वर्णन है। जैसे पण्डितजी, नेहरूजी, जवाहरलालजी आदि नाम भिन्न-भिन्न हैं; किन्तु इनसे प्रतिपादित व्यक्ति एक है, ऐसे ही वेदोंमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, मातरिश्वा आदि नाम भिन्न-भिन्न हैं; किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व एक ही है।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'
'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।'

'सर्वैः वेदैः'का तात्पर्य त्रिकाण्डात्मक सम्पूर्ण वेद एवं तदनुयायी इतिहास, स्मृति, पुराणादि सम्पूर्ण वाङ्मय एक उसी परमात्माका ही प्रतिपादन करते हैं।

'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥'

वेद, रामायण, पुराण तथा महाभारतमें आदि, मध्य, अन्तमें तथा सर्वत्र ही भगवान्‌का ही वर्णन है। उनके केवल नाम ही भिन्न-भिन्न हैं। स्वामी रामतीर्थजीने एक दृष्टान्त दिया है कि कहीं चार भाषाओंके जाननेवाले एकत्र हुए। चारोंको प्यास लगी। अब अंग्रेजी जाननेवालेने 'वाटर'के लिए वहाँ जो सेवक था, उसे कहा। संस्कृत जाननेवालेने संस्कृतमें कहा—'पानीय-मानय!' फारसी जाननेवालेने ज़िद की कि उसे पहिले 'आब' दिया जाय। चौथे व्यक्तिने 'पा'का आग्रह किया। सेवक जो सबकी भाषा जानता था, उसने सबके सामने लाकर पानीके ग्लास रख दिये। अब सबने समझा कि वे सब एक ही वस्तु माँग रहे थे। अतः नामोंमें जो भेद हैं, उसके भ्रममें मत पड़ो। नाम बहुत हैं; किन्तु तत्त्व एक ही है।

'सर्वैर्वेदैरहं वेद्य एव' सब वेदोंके द्वारा मुझे इसी जीवनमें जान ही लेना चाहिए। क्योंकि—

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति।
न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः॥'

यहाँ इसी जीवनमें परमात्माको जान लिया तो जीवन सत्य-

सफल हो गया और यदि जीवनमें परमात्माको नहीं जाना तो महान् विनाश हुआ।

प्रकृतिके क्षेत्रमें मनुष्य-देह सर्वोपरि है। प्रकृतिमें जीवनका चक्र रथके पहियेके समान घूम रहा है। पहिया जैसे ऊपर नीचे घूमता है, वैसे ही दुःखके बाद सुख और सुखके बाद दुःख जीवनमें आता रहता है। प्रकृतिके इस जीवन-चक्रमें मनुष्य जीवन सर्वोपरि भागमें है। इसीलिए प्रकृति वृक्षोंको ऊपर ले जाती है। वृक्ष भूमिमें उगकर ऊपर बढ़ता है और उसका रस भी नीचेसे ऊपर जाता है। लेकिन मनुष्यका भोजन मुखसे नीचे जाता है और मनुष्य माताके गर्भसे भी नीचे हो गिरता है। इसका अर्थ हुआ कि अब प्रकृतिकी सामर्थ्य इससे ऊपर ले जानेकी नहीं है।

प्रकृतिके जीवन-रथमें तुम इस समय सबसे ऊपर हो। इस चक्रसे इस बार नहीं छूटे तो नीचे जाना पड़ेगा। अतः इससे छूट जानेको यहींसे एक पगली छलाँग लगा दो। एक मकानमें आग लग गयी। मकान मालिक भीतर रह गये। सीढ़ी जल रही थी। वे सोचने लगे कि जिधर गद्दे बिछे हों, उधर कूदें—इस सोच-विचारमें ही जल गये। दूसरा व्यक्ति भी उसी मकानमें था। उसने देखा कि यहाँ रहे तो जल जाना निश्चित है। कूदनेपर हाथ-पैर भले टूटें, जीवन बचनेकी कुछ सम्भावना तो है। वह कूद पड़ा और बच गया। ऐसी ही छलांग परमात्माकी प्राप्तिके लिए लगाना आवश्यक है।

'दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥'

इस संसारमें तीन बातें दुर्लभ हैं, पहिली मनुष्य-जन्म प्राप्त होना, दूसरी मनुष्य होकर मुमुक्षा होना अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनका अनुभव करके उससे छूटनेकी इच्छा होना और तीसरी बात महापुरुषका आश्रय प्राप्त होना—सद्‌गुरु मिलना। ये तीनों बातें भगवान्‌की असीम कृपा होनेपर ही प्राप्त होती हैं।

अब यह प्रश्न हुआ कि जाननेवाला कौन और जनानेवाला कौन? अर्थात् शिष्य कौन और गुरु कौन? भगवान् कह रहे हैं कि गुरु भी मैं और शिष्य भी मैं ही हूँ।

'वेदान्तकृत्' अर्थात् मैं ही गुरु हूँ। 'वेदान्तकृत्'का अर्थ वेदान्तका बनानेवाला नहीं है। इसका अर्थ है वेदार्थका निश्चय करनेवाला। वेदव्यासादिके रूपमें अवतार धारण करके वेदार्थका निरूपण करनेवाला भी मैं ही हूँ।

'यस्य निःश्वसितं वेदाः'

वेद भगवान्‌के श्वास हैं और कोई भी अपने श्वासका निर्माता नहीं होता। भगवान् अनादि-अनन्त हैं, अतः उनका श्वासरूप वेद भी अनादि अनन्त है। श्वास जीवनका लक्षण है। कोई जीवित है, इसका प्रमाण यही होता है कि उसका श्वास चलता है। ईश्वर है, इसका प्रमाण वेद हैं। जबतक वेदको मानोगे, नास्तिकता नहीं आ सकती। वेदको अपौरुषेय कहते हैं। मीमांसक सृष्टिको ही अनादि मानते हैं। जब सृष्टि अनादि है, तब शब्द भी अनादि हैं। लेकिन शब्द तो बिखरे हैं। उन शब्दोंकी मन्त्रोंके रूपमें जो आनुपूर्वी है, मीमांसाके मतसे वह अनादि होनेसे वेद अपौरुषेय हैं।

वेदका अर्थ ज्ञान होता है। ज्ञान ईश्वर कृत नहीं है। वह ईश्वरका स्वरूप ही है।

भगवान् कहते हैं कि मैं ही गुरुरूपमें प्रकट होकर वेदार्थका निश्चय करता हूँ और वेदविदेव चाहं' गुरुके द्वारा उपदिष्ट उस वेदार्थको समझनेवाला शिष्य भी मैं ही हूँ।

सभी लोग भगवान्के इस स्वरूपको क्यों नहीं समझते? सांसारिक चाहके कारण। आहका ही रूप चाह है। ब्रह्माजीने आह बनायी और उसे संसारमें अपने योग्य पति ढूँढ़ने भेज दिया। आह संसारमें घूमती फिरी; किन्तु उसे किसीने स्वीकार नहीं किया तो वह ब्रह्मलोक लौट गयी। उसकी बात सुनकर ब्रह्माजी बोले—'मुझसे एक भूल हो गयी। सुन्दर सुखप्रद लड़की मुख खोले निकले तो उसे लोग स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु तुम्हें खुले मुख जानेपर कौन स्वीकार करेगा।' ब्रह्माजीने 'आह'के ऊपर 'च' की चादर डाल दी। अब वह चाह बनकर आयी तो संसारमें सभी उसे अपने हृदयमें बैठाने लगे। चाह हृदयमें आकर अपनी चादर उतार देती है और आह बनकर बैठ जाती है।

अब इस चाहसे छुटकारा कैसे हो? चाहसे छुटकारा चाहके द्वारा ही होता है। जैसे हीरा ही हीरेको काटता है, लोहेसे ही लोहा काटा जाता है, वैसे ही आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा, भगवत्प्राप्तिकी चाह इस चाहको काट देती है।

'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' यह बात बार-बार सोचने, समझने और कहनेकी है। भगवान् अपने हृदयमें ही हैं। किस

रूपमें उपलब्ध होंगे वे भगवान् हमें ? स्मृतिके रूपमें। सच्चे भगवत्प्रेमी कहते हैं कि भगवान्का स्मरण और उनकी भक्ति ही परम फल है। भगवान् हमारे नेत्रोंके सम्मुख प्रकट हो सकते हैं, भगवान्का दर्शन हो सकता है यदि उत्कट प्रेम हो। लेकिन प्रकट होकर भगवान् नेत्रोंके सामने तो सदा रहेंगे नहीं। वे जब चले जायँगे तो क्या दे जायँगे ? अपनी स्मृति और प्रेम। अतएव स्मृति और प्रेम ही परम फल हैं। यदि भगवान्का प्रेम और स्मरण प्राप्त हो गया तो भक्त भगवद्दर्शनकी भी अपेक्षा नहीं करते।

पण्ढरपुरमें पुण्डरीक भक्त हो गये हैं। वे पिता-माताके बड़े भक्त थे। भगवान् उन्हें दर्शन देनेको प्रकट हुए तो पुण्डरीकने एक ईंट दे दी भगवान्को खड़े होनेके लिए और बोले—'अभी बोलिये मत। मेरे पिताजी सो रहे हैं। वे जाग जायँगे, तब मैं आपसे बात करूँगा।'

भगवान्ने कहा—'मैं चला जाउँगा।'

पुण्डरीक बोले—'चले जायँगे तो फिर आना पड़ेगा। मेरी जिस पितृभक्तिसे विवश होकर आप आये हैं, वह बनी रहेगी तो आप फिर-फिर आयेंगे; किन्तु उसे छोड़ दूँ तो मैं फिर कहाँका रहूँगा ?'

भगवान् अर्जुन को सारथिके रूपमें मिले थे और फिर वही गुरु हो गये। अन्तःकरणके रथको जो चलाता है, साधनका वह निर्देष्टा गुरु ही सारथि है और वही परमात्माका स्वरूप भी। भगवान्ने अर्जुनको गीताका उपदेश किया और पूरी गीता सुनकर उसने कहा—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।'

हृदयमें बैठा यह ईश्वर ही स्मृति देता है। मेरे परिचित एक सन्त पाकिस्तान बननेके पूर्व कराँचीसे वृन्दावन आये। उनके साथ उनके डेढ़-दो सौ भक्त थे। लौटते समय एक छोटा स्टेशन समीप आया जहाँ गाड़ी केवल तीन मिनट रुकती थी। उन सन्तने अपने भक्तोंसे कहा—'मेरे भीतरसे आवाज आ रही है कि यहीं उतरकर सत्संग करना चाहिए। यात्रा जारी रखना और प्रतिदिनके नियमित सत्संगको छोड़ देना अथवा सत्संग जारी रखना और यात्रा छोड़ देना, इन दोनों बातोंमें मुझे सत्संग जारी रखनेका आदेश मिल रहा है। सब लोग उतर पड़ो। तीन घण्टे यहाँ रुकेंगे, सत्संग करेंगे और फिर जो गाड़ी आयेगी उससे चलेंगे।

उनके सभी भक्त तीन मिनटमें ही उतर गये। वे लोग सत्संगका आनन्द लेने लगे। लेकिन वह ट्रेन अगले स्टेशन पहुँचनेसे पहिले लाइनसे गिर पड़ी। ट्रेन गिरनेवाली है, यह बात हृदयमें रहनेवाले ईश्वरने नहीं बतायी। उसने केवल अपनी स्मृति देकर उन लोगोंकी रक्षा कर ली।

वृन्दावनमें हमारे कोकिल साईं थे। उनसे उनके एक भक्तने पूछा 'चावलमें नमक डालते समय हृदयमें कौन बतलाता है कि इतना ही नमक डालना ठीक रहेगा?'

स्मरण रखना चाहिए कि सिन्धी लोग चावल बनाते समय उसमें नमक डालते हैं। हम लोगोंकी भाँति फीका चावल उन्हें अच्छा नहीं लगता। साईंने कहा—'यह ईश्वरकी आवाज है।'

मेरे एक मित्र गंगोत्तरीसे आगे गोमुख गये। वहाँ जब स्नान करने गये तो भीतरसे प्रेरणा हुई कि बीच धारामें घुस चलो।

उत्तरकाशीमें ही गंगाजीका पानी इतना ठण्डा है कि उसमें सब लोग स्नान नहीं करते, गंगोत्तरीमें तो और भी कठिन है; गोमुखमें तेजधाराके बीच जानेकी तो बात ही कौन सोचे ? लेकिन वे धारामें चले गये। बीचमें पहुँचने पर देखते हैं कि ऊपरसे बड़ी भारी बरफकी शिला लुढ़कती आ रही है। वे पक्के ईश्वर-विश्वासी हैं। मृत्यु निश्चित समझकर नेत्र बन्द करके उन्होंने सिर झुका दिया। शिला लुढ़कती आयी और उनके सिरसे लगभग एक-दो फुट ऊपर उसके दो टुकड़े हो गये। एक टुकड़ा दाहिने और एक बायें लुढ़क गया। यदि वे किनारे होते तो अवश्य उन्हें चोट आती।

गंगा किनारे भेरिया नामका एक स्थान है। वहाँ श्री उड़िया-बाबाजी महाराज, श्री स्वामी शास्त्रानन्दजी आदि कई महात्मा एकबार एकत्र थे। उनमें इस प्रश्नपर चर्चा चली कि भीतरसे जो आवाज—प्रेरणा आती है, वह ईश्वरकी ही है, इसका क्या प्रमाण है ? वह आवाज वासनाकी भी तो हो सकती है। उस समय महात्माओंने यह निर्णय किया था कि जो आवाज भीतरसे आती है, उसमें अपने भोग, लोभ, काम, हिंसा, पक्षपातका लेश है या नहीं, यह देखना चाहिए।

एकबार मैं काशी होकर निकला तो वहाँ दंगे हो रहे थे। मकानोंमें आग लगा दी गयी थी। वे जल रहे थे। राह चलते यात्री मार दिये जाते थे। मेरे मनमें जिन्नाके प्रति दुर्भाव आया। इसके कुछ ही दिन बाद वृन्दावनमें गीता जयन्तीके दिन प्रातःकाल एक तारा गिरा। बहुत बड़ा तारा था। उसके प्रकाशसे एकबार नीली रोशनी चारों ओर फैल गयी। अपने यहाँ ऐसा विश्वास किया जाता है कि बड़ा उल्कापात किसी बड़े प्रसिद्ध व्यक्तिके

मरनेकी सूचना है। वह तारा गिरा तो मुझे निश्चय हो गया कि जिन्ना ही मरेगा। उसके दस-पन्द्रह दिन बाद ही महात्मा गान्धीका अवसान हुआ। गान्धीजीकी मृत्युकी कल्पना भी मेरे मनमें नहीं थी। जिन्नाके प्रति मनमें द्वेष था, अतः भीतरकी आवाजको समझनेमें भूल हुई। गान्धीजीके प्रति आस्था थी, प्रेम था, इसलिए उनके निधनकी बात मनमें आयी ही नहीं। अन्तःकरणमें जब राग-द्वेषका कलुष होता है, तब भीतरसे आती ईश्वरकी वाणी समझमें नहीं आती।

एक महात्माने बचपनमें मुझे तीन बातें बतलायी थीं। पहली बात यह कि भगवान् कृपा करते हैं, तब मनुष्यको वैराग्यकी ओर ले जाते हैं। यह देखना चाहिए कि तुम्हारे भीतरकी प्रेरणा तुम्हें किधर ले जा रही है। राग-द्वेष भोग-संग्रह तथा हिंसाकी ओर ले जा रही है तो वह वासनाकी—शैतानकी प्ररणा है। त्याग-वैराग्य भजनकी ओर ले जानेवाली प्रेरणा है तो वह भगवत्कृपा है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

'त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत् पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥'

वृत्रासुर इन्द्रसे कहता है 'इन्द्र! मेरे स्वामी श्रीहरि अपने प्यारे भक्तोंको संसारके अर्थ, धर्म, कामकी प्राप्तिके लिए परिश्रम करते देखते हैं तो उनका प्रयत्न व्यर्थ कर देते हैं। अपना प्रयत्न इस प्रकार नष्ट हो तो इसे भगवान्‌की कृपा समझना चाहिए। दीनबन्धु प्रभुकी यह कृपा उनके निज जनोंको छोड़कर दूसरोंके लिए दुर्लभ है।

महात्माने दूसरी बात बतलायी थी कि भगवान्‌का दर्शन शास्त्रानुरोधी होना चाहिए, विरोधी नहीं। शास्त्रमें भगवान्‌का जैसा वर्णन है, वैसा ही दर्शन हो तब मानना। मनमाना दर्शन भगवद्दर्शन नहीं होता, उसमें अपने ही मनके विकार होते हैं।

तीसरी बात यह थी कि गुरुने जो साधनदेह दिया, वह माता-पिताके द्वारा प्राप्त देहसे उत्तम है। पिता-मातासे उत्पन्न देह तो यहीं नष्ट हो जायगा; किन्तु गुरुने तुम्हें जो भगवान्‌का दास, मित्र, पत्नी आदिके रूपमें साधनदेह दिया है, उसीसे भगवान्‌से मिलना है। वही तुम्हारा सर्वोत्कृष्ट देह है।

तुम्हारा मन गुरुकी आज्ञामें नहीं रहेगा, शास्त्रकी मर्यादा मानकर नहीं चलेगा तो उच्छृङ्खल हो जायगा। उससे जो मनमाने साधन होंगे, वे निष्फल होंगे।

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि॥'

जो शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करता है, वह न सफलता पाता है, न सुख और न श्रेष्ठ गति। इसलिए शास्त्र-प्रमाणसे करणीय-अकरणीयका निश्चय करके, शास्त्रविधिको जानकर कर्म करना चाहिए।

जो शास्त्र तथा गुरुके आदेशपर दृढ़ रहकर साधन करता है,

उसके हृदयका आवरण स्वतः दूर हो जाता है। मानसिक रश्मियोंके वक्रीभवनसे उसे अपने भीतर ही देवताओं, ऋषियों आदिके दर्शन होते हैं। उसे भगवान्‌के स्वरूपके दर्शन होते हैं। 'साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति' वह भगवान्‌के साथ बातचीत करता है, हँसता-खेलता है।

भगवान् हमारे हृदयमें ही बैठे हैं। जो बात विचारसे सिद्ध हो; किन्तु अनुभवमें न आये, उसमें अपने अनुभवमें ही त्रुटि समझना चाहिए। इन्द्रियोंमें, मनमें बुद्धिमें ही कोई त्रुटि है—यह मानना चाहिए। भगवान् हमारे भीतर हैं, यह विचारसे सिद्ध है। अब वे अनुभवमें नहीं आते तो यह त्रुटि अपने अनुभवकी है।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' सम्पूर्ण वेदोंका प्रतिपाद्य परमात्मा है, ब्रह्म है और भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह मैं हूँ।

सामान्यतः 'मैं जानता हूँ' ऐसा तत्त्वज्ञ नहीं कहते; क्योंकि ब्रह्म जाना नहीं जाता 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।' ब्रह्म ज्ञानका विषय नहीं है और न ज्ञानका अभिमानी। यदि वह जाना गया तो विषय बन गया। इसलिए ब्रह्म न ज्ञानका विषय है और न आश्रय। ज्ञाता या ज्ञेय नहीं, वह शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। लेकिन महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा था—'मैं जानता हूँ।' बात यह है कि शुद्ध परमात्मतत्त्वको देह, जीव आदि बताना तो दोष हो सकता है; किन्तु शुद्धको शुद्ध बतलाना दोष नहीं है। अतः वैदिक ऋषिकी वाणी है—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं' जैसे अज्ञानीपनेका अपनेमें आरोप करके अपनेको लोग अज्ञानी कहते हैं, वैसे ही

लोककल्याणके लिए, शिष्यकी आस्था दृढ़ करनेके लिए अपनेमें ज्ञानीपनेका आरोप करके कभी-कभी महापुरुष अपनेको ज्ञानी कहते हैं।

यहाँ भगवान् अपनी महिमाका ही गान कर रहे हैं। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' वेदोंमें परमात्माको छोड़कर और किसी वस्तुका वर्णन नहीं है; क्योंकि परमात्माके अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं।

वेद किस प्रकार परमात्माका ही वर्णन करते हैं ? इसे वर्णनके लिए वेद कार्यरूप उपाधिका और कारणरूप उपाधिका वर्णन करके फिर दोनों उपाधियोंसे रहित परमात्माका वर्णन करते हैं। उस परमात्माके ज्ञानके लिए उपाधि-शोधनका वर्णन करते हैं। एक ही परमात्मा भ्रान्तिसे जो भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंके कारण नाना प्रतीत हो रहा है, उसे जाननेके लिए विवेक—उपाधिको खोज करनी है।

अब इसे यों समझिये कि जो उत्पन्न हुआ, वह कार्य और जिससे उत्पन्न हुआ, वह कारण। जैसे घड़ा मिट्टीसे बना, कुम्हारने डण्डे, चाक आदिकी सहायतासे उसे बनाया तो मिट्टी, कुम्हार, डण्डा, चाक आदि कारण हुए और घड़ा कार्य हुआ। कारण भी दो प्रकारके होते हैं, निमित्त कारण और उपादान कारण। घड़ा बन जानेपर उससे कुम्हार, चाक, डण्डेका सम्बन्ध नहीं रहा। ये घड़ेको बनानेमें निमित्त थे, अत. ये निमित्त कारण हैं और घड़ा फूटकर मिट्टी रह जायगा, इसलिए मिट्टी उपादान कारण हुई। कार्य जिसमें मिटनेपर मिल जाता है, वह उपादन

कारण कहलाता है। लेकिन पृथिवीकी सब मिट्टी घड़ेका उपादान कारण नहीं है। जितनी मिट्टीसे घड़ा वना है, घड़ेको तौलनेपर जो वजन उसका है, बस उतनी ही।

घट उसे कहते हैं जो घटित—गढ़ा गया हो। यह शरीर भी घट है और यह संसार भी। जैसे स्वर्णके बने गणेश और स्वर्णके वने उनके वाहन चूहेमें केवल आकृतिका अन्तर है और नाम दो हैं; किन्तु स्वर्ण एक ही है, वैसे ही संसारमें आकृतियाँ पृथक्-पृथक् हैं, उनके नाम भिन्न-भिन्न हैं; किन्तु उनमें मूल धातु एक ही है। जैसे कपड़ेमें सूतसे हाथी, घोड़े, पक्षी, वृक्ष, लता, पुष्प बने हों तो उनके नाम अलग-अलग, उनकी आकृतियाँ अलग-अलग होती हैं। वस्तुतः है सब सूत ही, वैसे ही संसारके सब नाम-रूप एक ही धातुमें घटित हैं और वह मूल धातु परमात्मा है।

जितने भी वैदिक आचार्य हैं, सभी जगत्का उपादान परमात्माको ही मानते हैं। अद्वैतमत, द्वैतमत, द्वैताद्वैतमत, शुद्धाद्वैतमत आदि सबके आचार्य जगत्का उपादान परमात्माको ही मानते हैं। श्रीमध्वाचार्य जीव और ईश्वरका द्वैत तो मानते हैं; किन्तु जगत्का कारण ईश्वरको ही मानते हैं। शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सौर आदि सभी सम्प्रदायोंके आचार्य इस विषयमें एकमत हैं। ईश्वरसे जगत्की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस विषयमें तो मतभेद है; किन्तु जगत्का कारण ईश्वर है, इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है।

एक मूलभूत कारण जो परमात्मा है, उसमें भेदका भान अज्ञानमूलक है। 'वासुदेवः सर्वमिति' 'स महात्मा सुदुर्लभः' परमात्मा तो सर्वके रूपमें है ही; किन्तु सर्वके रूपमें उसे जाननेवाला महात्मा

दुर्लभ है। परमात्मा सुलभ है और महात्मा दुर्लभ है। ऐसा महात्मा होना कितना दुर्लभ है—

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥'

सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक तो परमात्माको जाननेका यत्न करता है और यत्न करनेवालोंमें कोई ही परमात्माके वास्तविक स्वरूपको जान पाता है।

इसलिए वेदमें उस परमात्माकी प्राप्तिके लिए भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। वेदमें जो मनुष्य, हाथी, घोड़े आदिका वर्णन है, वह उपाधिका—प्रतीतिका अनुवादमात्र है। जहाँ चिकित्साका वर्णन है, वहाँ वह इसलिए है कि शरीर स्वस्थ रहेगा, तब परमात्माकी प्राप्तिका यत्न होगा। जहाँ धर्मका वर्णन है, वहाँ वह अन्त:करणकी शुद्धिके लिए है; क्योंकि शुद्धान्त:करण पुरुष ही आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जन्म-मृत्यु, स्वर्ग-नरक आदिका वर्णन इसलिए है कि आत्माका अविनाशित्व समझमें आजाय। इस प्रकार वेदोंके प्रत्येक वर्णनका तात्पर्य परमात्मतत्त्वके ज्ञानके योग्य बनाने तथा ज्ञान करानेमें ही है। वेदोंमें एक भी वर्णन ऐसा नहीं है, जिसमें परमात्माका वर्णन न हो।

कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं जो कहते हैं कि ब्रह्म तो बहुत छोटी वस्तु है। वे कहते हैं कि आज्ञाचक्रसे (भ्रूमध्यसे) ऊपर और बंकनालसे नीचे मायामण्डलमें ही ब्रह्म है। उससे ऊपर शून्य, महाशून्य, परब्रह्म आदिसे ऊपरका स्थान हम जानते हैं। अब कोई अपने बेटेका नाम ब्रह्म रख ले और कहे कि हम ब्रह्मके बाप

हैं तो उससे हमें क्या विवाद हो सकता है; किन्तु हम परमात्मा उसे कहते हैं जो सबसे बड़ा है, जिससे कोई नहीं है। हम स्वयं-प्रकाश, सर्वावभासक सत्ताको ब्रह्म कहते हैं। वह अद्वितीय है। जो छोटा है और जिससे बड़े शून्य, महाशून्य आदि हैं, वह हमारा ब्रह्म नहीं है। वह वेदप्रतिपादित ब्रह्म नहीं है। वह किसीका मानसपुत्र हो, कोई अपनी कल्पनाके किसी स्तरका नाम ब्रह्म रख ले तो उससे वैदिक ज्ञानपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जो वैदिक आचार्य हैं, उन्हें तो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'की व्याख्या करनी ही पड़ती है। वैष्णव ब्रह्मका अर्थ नारायण, वासुदेव, राम आदि करते हैं, शैव उसका अर्थ शिव करते हैं, गाणपत्य गणेश और शाक्त उसका अर्थ शक्ति करते हैं। इसका तात्पर्य है कि नाम और आकारका ही भेद है, तत्त्व तो एक ही है।



'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो'में जो बात कही गयी है अब उसीका स्पष्टीकरण अगले श्लोकमें है। सम्पूर्ण वेदोंमें परमात्माका वर्णन किस प्रकार है? इसीका उत्तर है कि 'क्षर,' 'अक्षर' तथा 'उत्तम पुरुष'के रूपमें। वह है तो एक ही; किन्तु क्षरकी उपाधिसे क्षर है, अक्षरकी उपाधिसे अक्षर है और क्षर तथा अक्षरकी उपाधिसे रहित होकर पुरुषोत्तम है।

इन तीनों उपाधियोंके द्वारा ही वेदमें परमेश्वरका वर्णन है। जैसे एक ही व्यक्ति पुत्रके लिए पिता है, पिताके लिए पुत्र है, बहिनके लिए भाई है और पत्नीके लिए पति है, एक ही स्त्री पुत्रकी माता है, भाईकी बहिन है, पिताकी बेटी है और पतिकी पत्नी है, वैसे ही एक ही पुरुषोत्तम उपाधियोंसे क्षर तथा अक्षर भी है। हमने कहीं पढ़ा था कि विलायतमें एक व्यक्ति अपना चेहरा बदल लेनेमें बड़ा चतुर था। उसने अपने तीन कार्यालय चार स्थानोंपर बना रखे थे। एक बैंकका कार्यालय था, एक समाचारपत्रका और एक व्यापारका कार्यालय था। वह व्यक्ति अलग-अलग वस्त्र और रूपमें बैंकका मालिक, समाचारपत्रका सम्पादक और व्यापारका सेठ बनकर उन कार्यालयोंमें जाता था। रहता वह चौथे स्थानपर ही था। जब उसका काम चलने लगा, तब एक दिन समाचारपत्रमें छप गया कि बैंक फेल हो गया और उसका मालिक मर गया। थोड़े दिनों बाद व्यापारवाली फर्मका भी दिवाला निकल गया और सेठके मरनेकी घोषणा हो गयी। अन्तमें समाचारपत्र भी बन्द हो गया। उसके सम्पादककी

भी मृत्यु बता दी गयी। बहुत दिन बाद गुप्तचर पुलिसने उस व्यक्तिको पकड़ा; क्योंकि अपने तीनों रूपोंमें मरनेकी घोषणा करके वह बहुत लोगोंका रुपया हड़प गया था।

जैसे चार रूपोंमें, चार वेशमें रहते हुए और विभिन्न कार्यालयोंको चलाते हुए भी व्यक्ति एक ही था, वैसे ही ये जो अनेक नाम-रूप दीख रहे हैं, उनमें एक ही परमात्मा है। उपनिषद्‌में कहा गया है 'अस्य त्रय आवसथाः' तीन इसके 'आवसथ' रहनेके स्थान हैं। जाग्रत् अवस्था इसका कार्यालय है। इसमें यह संसारका व्यवहार करता है। स्वप्नावस्था इसकी प्रयोगशाला है। वहाँ संस्कारोंके द्वारा यह सृष्टि-स्थिति-प्रलयके अपने अनेक प्रयोग करता रहता है और सुषुप्ति इसका विश्राम भवन है। अगले श्लोकके अर्थकी संगतिके सम्बन्धमें तीन मत हैं। एक मत यह है कि गीताके इस पन्द्रहवें अध्यायमें अबतक जो कुछ कहा गया है, भगवान् अब उसीको साररूपमें बतला रहे हैं। 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं' आदिसे क्षरका 'ममैवांशो जीवलोके' आदिसे अक्षरका और 'यदादित्यगतं तेजो' 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो' आदिसे जिस उत्तम पुरुषका निरूपण इस अध्यायमें अबतक हुआ है, अब उसीको सार रूपसे फिर कहा जा रहा है।

दूसरा मत यह है कि केवल इस पन्द्रहवें अध्यायके अबतकके वर्णनका ही नहीं, सम्पूर्ण गीताके ही तात्पर्यको भगवान् यहाँ सार रूपमें बता रहे हैं। गीताके सप्तम अध्यायमें 'भूमिरापोऽनलो वायुः'से जो अपरा प्रकृतिका वर्णन है, वह क्षर पुरुष है। 'जीवभूतां महाबाहो' से वर्णित परा प्रकृति अक्षर पुरुष है और 'अहं कृत्स्नस्य जगतः' 'मत्तः परतरं नान्यत्' आदिसे उत्तम पुरुषका वहाँ प्रतिपादन है। गीताके आठवें अध्यायमें अधिभूत, अध्यात्म और अधियज्ञके रूपमें इसी क्षर-अक्षर तथा पुरुषोत्तमका वर्णन है। आगे तेरहवें अध्यायमें 'इदं

शरीरं'के द्वारा क्षेत्र 'एतद्यो वेत्ति'में क्षेत्रज्ञ और दोनोंके निर्विशेष प्रकाशक ब्रह्मके रूपमें पुरुषोत्तमका ही वर्णन है। इस प्रकार यहाँ भगवान् सम्पूर्ण गीताके ही सारका वर्णन कर रहे हैं।

तीसरा मत यह है कि अभी ही भगवान्ने 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' कहा है और अपनेको 'वेदान्तकर्ता' तथा वेदके तात्पर्यको जाननेवाला भी बतलाया है। अतएव इस अगले श्लोकमें किस प्रकार वेद परमात्मतत्त्वका निरूपण करते हैं, यह बतलाया गया है। इस श्लोकमें सम्पूर्ण वेदों तथा वेदान्तका निचोड़ आ रहा है।

यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि कोई भी प्रपञ्चके निरूपणपूर्वक परमात्माका निरूपण करना चाहेगा तो उसे इसी प्रकार बोलना पड़ेगा। दूसरी शैली उसके निरूपणके लिए है ही नहीं।

१६

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

इस लोकमें ये दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर। सम्पूर्ण प्राणि-पदार्थ क्षर हैं और उनमें जो कूटस्थ है, उसे अक्षर कहा जाता है।

पहिले जिसे स्त्रीलिंगमें अपरा प्रकृति कहा, नपुंसक लिंगमें क्षेत्र कहा, उसीको अब पुंलिंगमें क्षर पुरुष कह रहे हैं। इस प्रकार तीनों लिंगोंमें जगत्का वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि जगत्में लिंग-भेद नहीं है। पञ्चभूत सबके शरीरमें वही हैं और जीवका

कोई लिंग नहीं। जो आज पुरुष है, वही कभी स्त्री था। कभी नपुंसक था और आगे भी स्त्री या नपुंसक—देह पा सकता है। जो आज स्त्री है, वह कभी पुरुष या नपुंसक भी रही होगी। यहाँ भौतिक दृष्टि न रखकर परमात्माको ही ढूँढ़ना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्णके वृन्दावन-चरितमें अनेक रसमयी कथाएँ हैं। उनमेंसे एक यह है कि श्रीराधारानी एकबार मान करके बैठ गयीं। श्रीकृष्णने बहुत मनाया, बहुत अनुनय-विनयकी लेकिन वे मानीं नहीं। तब श्रीकृष्णने एक युक्ति की। उन्होंने अपने दो रूप बनाये। एक रूप तो बनाया भ्रमरका और एक अपने रूपसे उदास बनकर श्रीराधारानीके पास बैठ गये। भ्रमर जब श्रीराधारानीके पास पहुँचा तो उन्हें डर लगा कि यह काटेगा। भयके मारे वे श्रीकृष्णके कण्ठसे लिपट गयीं। उनका मान टूट गया। भ्रमर अदृश्य हो गया।

यह जगत् इसी प्रकारकी जीव और ईश्वर की अनादि क्रीड़ा है। अक्षरात्मा जो जीव है, उसे पुरुषोत्तमसे प्रेम करना चाहिए। लेकिन यह उधरसे मुख फेरकर बैठ गया। तब भगवान् क्षररूप रखकर उसके सामने आये। यह क्षररूप जगत् विनाशी है, काटनेवाला—दुःख देनेवाला है। भगवान्ने यह रूप इसलिए लिया कि इससे डरकर अक्षरात्मा उनकी ओर देखे। यदि इस संसारमें दुःख, दारिद्रय जड़ता, मृत्यु न होती तो कौन इससे मुख फेरनेकी बात सोचता?

भगवान्ने दो रूप बनाये हैं—'अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः' भीतर हृदयमें वे पुरुषोत्तमके रूपमें विराजमान हैं

और बाहर कालरूपमें हैं। बाहर सुखमें दुःख, जन्ममें मृत्यु, संयोगमें वियोग ऐसा घुलामिला है कि इस जगत्में सुख-शान्ति नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। 'जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना। जो फल लगेगा, वह गिर जायगा—सड़ जायगा। जिसका अभ्युदय होगा, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। संसारमें प्रत्येक वस्तुके साथ जन्म-मरण, बढ़ना-घटना, रहना और विकृत होना लगा है।

उपनिषद्ने कहा—'नात्र भोग्यं पश्यामि। हमने ढूँढ़कर देख लिया, जगत्में कोई वस्तु भोगके योग्य नहीं है। भोगमें गन्दगी और रोग मिला हुआ ही सर्वत्र मिलता है। यहाँ पाप-ताप-अपवित्रतासे रहित कोई भोग नहीं है। जीवनमें मृत्यु, संयोगमें वियोग, रागमें द्वेष, हर्षमें शोक मिले हुए हैं। यह संसारका स्वभाव है।

जीव जब भगवान्के पाससे चलने लगा तो उसने प्रार्थना की—'मैं जगत्में जा तो रहा हूँ; किन्तु मुझे वहाँ आपकी मायामें फँस जानेका डर लग रहा है।

भगवान्ने कहा—'पुत्र! डरो मत। मैं तुम्हारी जन्म-कुण्डलीमें ही यह स्थिर कर देता हूँ कि जबतक तुम मेरे पास लौट नहीं आते, तुम्हारे सुखमें दुःख, अखण्डतामें परिच्छिन्नता, ज्ञानमें मूर्खता, जन्ममें मृत्यु, सन्तोषमें असन्तोष, वृद्धिमें ह्रास मिला ही रहेगा। अतः तुम कहीं फँसकर बैठ नहीं सकोगे। यह भगवान्की अपार कृपा है कि जगत्में दुःख ही अधिक है। यह व्यवस्था उन्होंने इसलिए की है, जिससे जीव यहीं उलझा न रह जाय। माता छोटे बच्चेको अन्धकार में नहीं जाने देना चाहती और

अपने पास ही रखना चाहती है तो 'हौआ'का नाम लेकर डराती है। भगवान्‌ने जीव को अपने पास रखनेके लिए यह जगत्‌का भय बनाया है।

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।' इसका अन्वय 'क्षरश्चाक्षरश्च द्वौ पुरुषावेव' इस प्रकार होगा। क्षर भी पुरुष है और अक्षर भी पुरुष है। एक ही पुरुष दो रूपोंमें है। उसका रूप क्या है? 'इमौ' इन दोनों पुरुषोंकी परिभाषा है 'इदं'। ये दोनों पुरुष 'यह'के रूपमें हैं, दृश्य हैं, प्रकाश्य हैं। इनका जो द्रष्टा है, प्रकाशक है, वह पृथक् है। वह इनसे अलग है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'। वह उत्तम पुरुष है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावनमें गोपबालकोंके साथ क्रीड़ा कर रहे थे। उन्होंने अघासुरको मार दिया। व्रजलीलामें पापका प्रवेश नहीं है। इसलिए अघासुरको मारकर श्रीकृष्णने मुक्त कर दिया। इसके बाद बालकोंके साथ यमुना-पुलिनपर आकर भोजन करने बैठे। मध्यमें श्रीकृष्ण और उन्हें घेरकर चारों ओर बैठे बालक। एक दूसरेको हँसाते-स्वयं हँसते सब भोजन कर रहे थे। यह संसार भगवान्‌की लीला ही है, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए।

वहाँ आये ब्रह्माजी। ब्रह्माका एक नाम विधि है। उन्हें लगा कि यह तो विधि-विधानके विपरीत है कि ये सब श्रीकृष्णको अपना जूठा खिला रहे हैं। विधानके विपरीत कार्य हो तो दण्ड मिलना चाहिए; किन्तु जो भगवान्‌के साथ बैठे हैं, उन्हें दण्ड दिया भी कैसे जा सकता है? कोई अपराध हो

और श्रीकृष्णसे दूर हो तो दण्ड दिया जाय। पहिले बछड़े दूर हुए। वे 'तृणलोभिताः' घासके लोभसे श्रीकृष्णकी ओर पीठ करके वनमें चले गये तो ब्रह्माने उनका हरण कर लिया। फिर बालकोंका दृष्टि श्रीकृष्णसे हटकर बछड़े कहाँ हैं, यह देखने गयी तो श्रीकृष्ण उठ गये। उन्होंने सोचा—'तुम लोग जब मुझे नहीं देखते, तो जहाँ तुम देखते हो, मैं वहीं जाता हूँ।' भगवान्‌के चले जानेपर ब्रह्माने बालकोंका हरण कर लिया।

श्रीकृष्णके ढूँढ़नेपर भी जब बछड़े और बालक नहीं मिले तो ब्रह्माका यह कार्य है, ऐसा जानकर वे पुरुषोत्तम क्षर और अक्षर दोनों बन गये।

'यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद् विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥'

जितने बछड़े थे, जितने बालक थे, उनकी जितनी आयु थी, जैसे उनके हाथ-पैर आदि थे, उनके जैसी छड़ी, सींग, वंशी, छींके आदि थे, जैसे वस्त्राभूषण थे, जिसका जैसा स्वभाव, गुण, आकृति, रंग, खेलनेकी पद्धति थी, सबके रूपमें वे सर्वस्वरूप हो गये। सब जगत् विष्णुमय है, इस श्रुतिको उन्होंने साक्षात् कर दिया।

छड़ी, छींके, वस्त्र, आभूषण, बछड़े, बालकोंके देह और उनके अन्तःकरण क्षर पुरुष तथा जीव—अक्षर पुरुष, दोनोंके रूपमें स्वयं

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र बन गये। सर्वस्वरूप भगवान् सर्व रूपमें प्रकट हो गये।

'क्षर और अक्षर'का यह निरूपण पुरुषोत्तमको पहचाननेकी प्रणाली है। क्षर-अक्षरके विवेकका फल है 'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।' क्षर-अक्षरका विवेक करके जो पुरुषोत्तमको पहचान लेता है, वह उनका सर्वभावसे भजन करता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्में आया है—

'क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः
क्षरात्मानौ भरते विश्वरूपः।'

यह एक प्रामाणिक उपनिषद् है। ब्रह्मसूत्रके मूलमें इसके कई मन्त्र हैं और वहाँ उनपर सभी आचार्योंके भाष्य हैं।

अब इस श्लोककी व्याख्यामें जो मतभेद है, उनपर भी एक दृष्टि डालें। तत्त्वके विषयका यह मतभेद राग-द्वेष, लड़ाई-झगड़ेके लिए नहीं है। यह तो विचार शैलीके उत्कर्षके लिए है। इससे तत्त्वके ठीक निर्णयमें सहायता मिलती है।

श्री रामानुजाचार्यजीका मत है कि क्षर पुरुष बद्ध जीव है। स्थूल जगत्के अति संसर्गसहित होनेसे वह क्षर कहा गया है। स्थूलके अतिसंसर्गसे रहित मुक्त जीव अक्षर पुरुष है। उत्तम पुरुष श्रीमन्नारायण इन दोनोंसे भिन्न हैं। क्षर और अक्षर ये दोनों जीव हैं, नियम्य हैं, भोग्य हैं, शेष हैं। इनका नियन्ता, भोक्ता, शेषी पुरुषोत्तम है।

श्री मध्वाचार्यजीका मत है—क्षर साधारण जीव हैं और अक्षर श्रीलक्ष्मीजी हैं। पुरुषोत्तम इन दोनोंसे भिन्न और दोनोंका नियन्ता है।

श्रीधर स्वामीका कहना है—क्षर जगत् है और अक्षर जीव। इन दोनोंसे विलक्षण परमात्मा पुरुषोत्तम है।

श्रीवल्लभाचार्यजीके मतमें क्षर—नाशवान् देहमें रहनेवाला जीव क्षर है। अक्षर निर्गुण ब्रह्म है। यह ब्रह्म भगवान्‌का धाम है।

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तामाहुः परमां गतिम्।'

यह अक्षर निर्गुण ब्रह्म भगवान्‌का धाम है। उस धामके अधीश्वर, धामी श्रीकृष्ण उससे भिन्न पुरुषोत्तम हैं।

श्रीशंकराचार्यजीके मतानुसार गीतामें ही भगवान्‌ने 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' कहा है। अब यदि क्षर तथा अक्षरसे पुरुषोत्तमको सर्वथा पृथक् कहा जायगा तो क्षेत्रज्ञसे एकत्व का प्रतिपादन संगत नहीं रहेगा। अतः यहाँ एक ही पुरुषका वर्णन है। वह कार्यकी उपाधिसे क्षर और कारणकी उपाधिसे अक्षर है। कार्य-कारण दोनोंकी उपाधिको छोड़कर वही पुरुषोत्तम है।

कालकी उपाधिसे वह विनाशी—आयुवाला प्रतीत होता है। देशकी उपाधिसे परिच्छिन्न, मनुष्याकार और वस्तुकी उपाधिसे पञ्चभूतात्मक अथवा अष्टधा प्रकृतिका कार्य प्रतीत होता है। इस पञ्चभूतात्मक शरीरमें 'मैं-मेरा' करके वह क्षर पुरुष है। इसे छोड़कर जो कारणोपाधि है, कालमें नित्य, देशमें व्यापक, वस्तुकी

समष्टि, वह अव्याकृत अक्षर पुरुष है। यह क्षर-अक्षर पुरुष वस्तुकी दृष्टिसे कार्य-कारण, देशकी दृष्टिसे व्यष्टि-समष्टि, कालकी दृष्टिसे विनाशी-नित्यके रूपमें निरूपित होता है। इसका विवेक वस्तुकी दृष्टिसे आभासवाद, देशकी दृष्टिसे अवच्छेदवाद और कालकी दृष्टिसे दृष्टि-सृष्टिवादके द्वारा होता है। उत्तम पुरुष दोनोंसे विलक्षण है। छान्दोग्योपनिषद्में आया है—'स वै उत्तमः पुरुषः।'

व्याकरणकी दृष्टिसे 'वह' प्रथम पुरुष, 'तुम' मध्यम पुरुष और 'मैं' उत्तम पुरुष है। 'यह' दृश्य है, प्रत्यक्ष है, यह क्षर पुरुष है। 'सः' वह सम्मुख नहीं है, परोक्ष है। 'यह' प्रथम पुरुष अक्षर पुरुष है और भगवान् श्रीकृष्ण अपने-आपको 'अहं'को उत्तम पुरुषको ही पुरुषोत्तम कह रहे हैं।

इस बात को और स्पष्ट रूपमें समझ लेना चाहिए। घड़ा फूटता है, अतः वह क्षर—विनाशी है। जिस मिट्टीसे घड़ा बना, घड़ेके फूटनेके बाद भी वह मिट्टी ज्यों-की-त्यों है। उसमें-से एक कण भी कम नहीं हुआ है। अतः मिट्टी आपको अक्षर लगती है। लेकिन घड़ेकी मिट्टीमें जल, वायु, अग्नि तथा आकाशका भी अंश है। घड़ा पञ्चभूतोंसे बना है, मिट्टी उसमें अकेली नहीं है। अतएव पञ्चभूत अक्षर होंगे। लेकिन मिट्टी जलसे उत्पन्न होती है और उसीमें प्रलयके समय लीन हो जाती है। जल अग्निसे, अग्नि वायुसे और वायु आकाशसे उत्पन्न होता है। आकाश अहंकारसे, अहंकार महत्तत्त्वसे और महत्तत्त्व प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है। अतः पृथिवीसे महत्तत्त्व तक सब क्षर हुए।

प्रकृति—अव्याकृत अक्षर है; किन्तु उसमें सबके बीच हैं। व्याकृतका अर्थ है विशेष आकारवाला और जिसमें विशेष आकृति नहीं बनी है, वह अव्याकृत।

जैसे नामका व्याकरण है, वैसे ही रूपका भी व्याकरण है। व्याकरण कहता है—'अश्नुते व्याप्नोति इति अक्षरः' जो व्यापक हो, उसे अक्षर कहते हैं। जैसे शब्दमें एक मूलधातुसे अनेक रूप बनते है, वैसे ही वस्तुमें भी एक मूलधातुसे अनेक रूप बनते हैं। मूलधातु एक है, अपरिवर्तनीय है, कारण है, अक्षर है। उसके रूप अनेक हैं, परिवर्तनशील हैं, कार्य हैं, क्षर हैं।

लिपि, भाषा और अक्षर—ये तीन तत्त्व हैं। हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, बंगला, तमिल, तेलुगु आदि भाषाएँ हैं। हिन्दीकी लिपि नागरी, अंग्रेजीकी रोमन तथा और भाषाओंकी भी भिन्न-भिन्न लिपियाँ बायेंसे दाहिने लिखी जाती हैं। उर्दू दाहिनेसे बायें लिखी जाती है। चीनी भाषा ऊपरसे नीचे हमारी संख्याके समान लिखी जाती है। भाषामें लिपि होती है और लिपिमें अक्षर होते हैं। अक्षरके भी तीन रूप हैं—एक जो लिखा जाता है, दूसरा जो बोला जाता है, तीसरा जो हृदयमें होता है। जैसे 'क' अक्षर है। यह भिन्न-भिन्न लिपियोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें लिखा जाता है। हिन्दी भाषामें उसे 'क' कहते हैं, अंग्रेजीमें 'के' और उर्दूमें 'काफ' कहते हैं। तीसरा रूप 'क'का वह है जो हृदयमें रहता है और कण्ठसे उच्चारित होता है। सभी भाषाओंमें 'क' चाहे जैसे लिखा जाय और चाहे जो पढ़ा जाय; किन्तु उच्चारण 'क' ही होगा। यह 'क' जो कण्ठसे

निकला, अक्षर है। भाषाएँ क्षर हैं, लिपि क्षर है। 'क'का जो रूप लिखा और पढ़ा गया, वह क्षर है।

'क' स्वयं कोई स्वतन्त्र अक्षर नहीं है। वह क्+असे बना संयुक्ताक्षर है। क, ग, च, ज आदि जो अल्पप्राण अक्षर हैं, उनमें स्वर मिला है। ख, घ, छ, झ आदि महाप्राण अक्षरोंमें 'ह' भी मिला है। क्+ह+अ मिलकर 'ख' बना है। व्याकरणशास्त्रने बताया है कि आ, इ, उ आदि स्वर तथा तथा व्यञ्जन भी 'अ'से ही बनते हैं। एक ही अक्षर 'अ' कण्ठ तात्वादि स्थान तथा उच्चारणके प्रयत्नभेदसे समस्त स्वर, व्यञ्जनके रूपमें प्रकट होता है। अतः सब स्वर-व्यंजन कार्य हैं, क्षर हैं और उच्चारणसे पूर्व हृदयमें स्थित अकार अर्थात् आकृतियोंसे रहित अव्याकृत अक्षर है।

अक्षर वह है जहाँ शब्द और अर्थका मूल है, जहाँ बुद्धि, अर्थ, शब्द सब एकाकार हैं। जैसे 'पुस्तक' नाम, 'पुस्तक' वस्तु और 'पुस्तक' शब्दसे मनमें जो उसका अर्थ आता है, वह अर्थ है। जहाँ यह नाम, अर्थ और वस्तु एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं, वह अक्षर है।

'अकारो वासुदेवः स्यात्' त्रिगुणात्मक बीजकी दृष्टिसे उसे ॐ कहते हैं। इसमें अ, ऊ, म ये त्रिगुण हैं। अर्धमात्रा प्रकृति है और बिन्दु उस प्रकृतिमें उपहित चेतन है। समाधिकी यह एक प्रणाली है कि अर्थ (वस्तु), नाम और ज्ञान—इन तीनोंको एक करके उसमें चित्तको स्थिर कर दो अर्थात् शब्द और अर्थको ज्ञानसे पृथक् मत देखो।

तमस्‌से आच्छादित चेतन ही प्रकृति है। पर्दा जहाँ झीना हो गया, वह समाधि है और पर्दा फट गया तो ब्रह्म है। तमोगुणकी प्रधानतासे सुषुप्ति है, सत्त्वगुणकी प्रधानतासे समाधि है, रजोगुणकी प्रधानतासे प्रपञ्च—व्यवहार है। तीनों गुणोंसे रहित अपना स्वरूप—ब्रह्म है।

करुणावरुणालय श्रीकृष्णचन्द्र अपना साक्षात्कार कराना चाहते हैं, अपनेमें एक कर लेना चाहते हैं। जीव कहीं क्षर या अक्षरको ही 'मैं' मानकर उन्हींमें अटके न रह जायँ, इसलिए उन्हें अपने समीप बुलानेको यह निरूपण कर रहे हैं।

'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इसमें भूत कहते हैं उत्पत्ति-विनाशशीलको 'भवन्तीति भूतानि' जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह अवश्य नष्ट होगी। क्षर वह, जो झर जाय। निर्झरमें जो 'झर' है, वही यहाँ क्षर हो गया है। रस्सीमें साँप देखा, वह मिट गया। कहीं किसीने भूत देखा, वह लुप्त हो गया। जैसे स्वप्नमें देखे लोगोंको जागनेके बाद नहीं बनाया जा सकता, वैसे ही मरे लोगोंको भी फिरसे नहीं बनाया जा सकता। 'भूत' जो भवनशील हो—होता रहे। एक बूँद पानीसे बना यह देहका बुलबुला, ये आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी ही नहीं, अहंकार और महत्तत्त्व भी उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। अतः यह क्षर हैं—भूत हैं। चींटीसे लेकर हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा तकके सब शरीर क्षर हैं। 'शीर्यतेति शरीरम्' पीपलके पत्तेके समान जो शीर्ण हो जाय, जिसमें झुर्रियाँ पड़ें, नस-नाड़ी दीखें और जो नष्ट हो जाय, उसे शरीर कहते हैं। ब्रह्मा

तकके सब शरीर शीर्ण होनेवाले हैं। उर्दूमें शरीर शब्दका अर्थ है शरारत करनेवाला। यह देह सबसे अधिक शरारत करनेवाला है। इसे चाहे जितना सम्हालो, चाहे जितना बचाओ, चाहे जितनी देखभाल इसकी करो; किन्तु यह बदलना नहीं छोड़ेगा। जैसे रखना चाहोगे, वैसे नहीं रहेगा। इसमें केश कालेसे सफेद होंगे, दाँत टूटेंगे, झुर्रियाँ पड़ेंगी और यह अपनेको नष्ट करके रहेगा। यह क्षर पुरुष है। क्षर पुरुषका वर्णन इससे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए है।

'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' कूट—यह पहिले वर्णित क्षर पुरुष है। उस कूटमें जो उसके कारणके रूपमें स्थित है, जैसे घड़ेमें मिट्टी है, वह कूटस्थ है। कूट कहते हैं झूठको, मायाको, पर्वतके शिखरको और कुलके मूल पुरुषको। न्यायालयमें झूठी गवाही देनेवालेको संस्कृतमें कूटसाक्षी कहते हैं। चित्रकूट, गृद्धकूट, हेमकूट, त्रिकूट—ये पर्वतोंके नाम हैं। जिसका शिखर अनेक धातु रंगवाला हो वह चित्रकूट, जिसपर बहुत गीध बैठें या जो गृद्धाकृति हो वह गृद्धकूट, जिसका शिखर सुनहला हो वह हेमकूट और जिसके तीन शिखर हों वह त्रिकूट। किसी पुरुषके वंशमें बहुत सन्तान हो गयीं। जैसे वृन्दावनमें श्रीविहारीजी और श्रीराधा-रमणजीके गोस्वामियोंका परिवार इतना बड़ा हो गया है कि अब किसी किसीकी सेवा तीन वर्षमें एक समय आती है। इन कुलोंके जो एक मूलपुरुष थे, वे कूटस्थ पुरुष कहे जायँगे। यह उत्पत्ति-विनाशशील क्षर पुरुष मायासे प्रतीत होता है, इसलिए कूट है।

जैसे पर्वत आँधी-पानी, वर्षा-सर्दी और गर्मीमें एकरस स्थित रहता है, वैसे ही जगत्की सृष्टि, स्थिति, प्रलयसे अप्रभावित जो इसमें कारणरूपसे स्थित है, वह कूटस्थ है। ये मनुष्य, पशु-पक्षी, पञ्चभूत आदि सब जिसके वंशमें उत्पन्न हुए हैं, जो इनका मूल पुरुष है, उसे कूटस्थ कहते हैं। यह सब शरीर अव्याकृतके वंशसे उत्पन्न हैं। सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय तीनोंमें वह ज्यों-का-त्यों रहता है। इसलिए वह अक्षर है।

जिसका वंश बहुत बढ़ जाता है, वह दुःखी रहता है। कभी कुलमें कोई मरता है, कभी कोई बीमार रहता है। कभी किसीको चोट लगती है, कभी किसीको घाटा होता है। बड़े कुलमें जो सबसे बड़ा है, उसके लिए कोई-न-कोई दुःख बना ही रहता है। यह सृष्टिरूप वंशवृक्ष जिसका है, वह जड़ होगा तो बिखरता रहेगा और जीव होगा तो दुःखी रहेगा। अव्याकृत अक्षर है; किन्तु परिणामी है। उसमें सृष्टि-प्रलयके परिणाम होते रहते हैं।

'कूट' कहते हैं लोहेके बने उस पदार्थको जिसपर स्वर्णकार आभूषण गढ़ता और तोड़ता है। हथौड़े-पर-हथौड़े चलते रहते हैं, कितनी ही आकृतियाँ टूटती-फूटती, बनती-बिगड़ती रहती हैं और वह कूट अर्थात् कूटनेकी जगह—निहाई (ऐरन) ज्यों-का-त्यों। उसीके समान जो स्थित हो, उसे कूटस्थ कहते हैं। यहाँ कूटस्थ अक्षर पुरुषकी व्याख्या है। व्याकृतियोंके मूलमें स्थित अव्याकृत। गीतामें अक्षर शब्द ॐकार, प्रकृति और ब्रह्मके अर्थमें प्रयुक्त हुआ

है। इसीसे परम अक्षरको ब्रह्म कहा गया है—'अक्षरं ब्रह्म परमं'। उपनिषद्में भी 'अक्षर' शब्द अव्याकृतके लिए प्रयुक्त हुआ है—'अक्षरात् परतः परः'। सबसे परे सर्वकारणरूप जो अक्षर—अव्याकृत है, उससे भी परे अक्षरब्रह्म है। इसलिए यहाँ सर्वकारण-रूप अव्याकृतको ही अक्षर कहा गया है।



● संगति

अब क्षर एवं अक्षर पुरुषसे विलक्षण भजनीय भगवान् पुरुषोत्तमके स्वरूपका निरुपण करते हैं—

१७

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

इन दोनों क्षर-अक्षर पुरुषोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम है। उसीको शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर परमात्मा अर्थात् आत्माका परम स्वरूप कहा गया है। वही त्रिलोकीमें भरपूर रहकर उसे धारण करता है, उसका नियमन करता है और स्वयं अविनाशी रहता है।

'द्वा इमौ पुरुषौ' क्षर और अक्षर ये दोनों दृश्य हैं। कार्य प्रत्यक्ष है और कार्यसे कारणका भी अनुमान हो जाता है। इनमें क्षर प्रत्यक्ष है, विनाशी है। उससे वह उत्तम पुरुष अन्य—भिन्न है अर्थात् इन्द्रियोंसे, मनसे और बुद्धिसे भी प्रत्यक्ष नहीं और विनाशी भी नहीं है। अक्षर पुरुष कारण है, परोक्ष है; क्योंकि कारणभूता अव्याकृत इन्द्रियोंसे नहीं देखा जाता। मनसे सोचा नहीं जाता:

और बुद्धि तो उसका कार्य है, बुद्धि क्षर है, अतः उससे भी वह प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए परोक्ष है। लेकिन पुरुषोत्तम न क्षर पुरुष अर्थात् कार्य जगत्के समान प्रत्यक्ष है और न अक्षर पुरुष—कारण अव्याकृतके समान परोक्ष है। वह इन दोनोंसे 'अन्य' अर्थात् विलक्षण—साक्षादपरोक्ष है।

कार्योपाधिसे संश्लिष्ट पुरुष क्षर और कारणोपाधिसे संश्लिष्ट पुरुष अक्षर है। जिसमें न कार्यकी उपाधि है, न कारणकी वह उत्तम पुरुष है। उपाधियोंसे संश्लिष्ट न होना ही उसकी उत्तमता है। उसके ज्ञानके साथ प्रपञ्चके ज्ञानसे प्रपञ्चकी निवृत्ति होती है। जादूगरके साथ जादूका ज्ञान होगा, तब जादूकी निवृत्ति होगी। केवल जादूको जान लोगे तो जादूगर दूसरा जादू फैलाये गा। रस्सीके ज्ञानके साथ सर्पका ज्ञान होगा, तब भ्रम दूर होगा। रस्सीका ज्ञान हुए बिना सर्पकी प्रतीतिको भ्रम जानोगे तो रस्सी माला या भूछिद्र (दरार) जान पड़ने लगेगी। केवल मायाका ज्ञान होगा तो माया ब्रह्मलोक या समाधि बनकर सामने आयेगी। ज्ञानसे माया नहीं मिटेगी, अधिष्ठानके ज्ञान सहित मायाके ज्ञानसे मिटेगी।

वह उत्तम पुरुष कौन है? परमात्मा। उसे ही उत्तम पुरुष कहा गया है। लोकमें जो उत्तम—श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे विपत्तिमें साथ नहीं छोड़ते। एक महात्माके समीप उनके एक परिचितने अपने पुत्रके विवाहमें सम्मिलित हानेका निमन्त्रण भेजा तो वे नहीं गये। बोले—'सुखमें सम्मिलित होना आवश्यक नहीं है।' फिर जब उसके बीमार होनेका समाचार मिला तो उसके पास

पहुँच गये। उस समय बोले—'दुःखमें ही तो सेवा करने, आश्वासन देनेकी हमारी आवश्यकता है।' दुर्जन लोग सुखमें मित्र बन जाते हैं और दुःखमें या तो पीड़ा देते हैं या पास नहीं आते। लेकिन परमात्मा सुख-दुःख दोनोंका साथी है। वह कभी किसीका साथ नहीं छोड़ता।

आत्माका परमत्व क्या है ? इसका बहुत उत्तम निरूपण तैत्तरीय उपनिषद्में है। उसमें अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष, इन सबको आत्मा बताया गया है। इन सब कोषोंसे जो विलक्षण है, वह परमात्मा है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषोंसे परत्व—परमत्व ही आत्माका परमत्व है। गीतामें भी परमात्माका वर्णन है—

'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥'

आत्माके अपर रूपका निषेध करके देखो तो परमात्मा प्राप्त होगा। आत्माका परमरूप ही परमात्मा है। वही विश्वरूप इस जगज्जालके रूपमें और इससे रहित भी है।

उपास्य विषयक ज्ञान उपासनाका हेतु होता है। उपासकके लिए मानकर जो श्रद्धापूर्वक आवृत्ति करनेकी वस्तु है, तत्त्व-जिज्ञासुके लिए वही क्षर-अक्षर पुरुषका विवेक करके उनसे अपनेको विलक्षण पहिचाननेका साधन करनेकी वस्तु है और तत्त्वज्ञ सिद्ध पुरुषका वह सहज स्वरूप है।

सम्पूर्ण शास्त्रोंकी प्रतिज्ञा है इस देहाभिमानके नरकसे चेतनको निकालनेकी। नर देह ही नरक है। जैसे 'बाल एव बालकः' बनता है, वैसे ही 'नर एव नरकः' बना है। यह देह हड्डी, मज्जा, मेद, मांस, रक्त, कफ, पित्त, मल मूत्रकी चमड़ेमें लिपटी पुड़िया है। यह साक्षात् नरक है। इस देहमें जो चेतन हैं, वह निर्मल है। जैसे कीचड़में लिपटे बच्चेको माता स्नान कराके स्वच्छ करना चाहती है, वैसे ही श्रुति भी स्वभावसे निर्मल जीवको जो देहमें 'मैं-मेरा' करके मलिन हो गया है, इस देहाभिमानसे निकालना चाहती है। सम्पूर्ण शास्त्रोंका उद्देश्य देहाभिमानकी निवृत्ति है। ईश्वरको न जाननेसे यह देहाभिमान हुआ है। अतः जैसे यह छूटे, जैसे जीव ईश्वरके उन्मुख हो, वही अभीष्ट है।

लोकव्यवहारमें लिप्त जीव मलिन है, साधनमें लगा उज्ज्वल है और सिद्ध लौकिकतासे पार हो गया है। जैसे सूरदास पहिले चिन्तामणि वेश्यामें आसक्त थे, यह हम जानते हैं। वेश्याका संग त्यागकर वे भजनमें लगे, यह भी हम जानते हैं। फिर उन्हें भगवान्का अनुभव प्राप्त हुआ, यह भी हमें ज्ञात है। वेश्यामें आसक्त सूरदास अधम पुरुष हैं। साधन-भजनमें लगे सूरदास मध्यम पुरुष और भगवान्का अनुभव करनेवाले सूरदास उत्तम पुरुष हैं।

पुरुष स्वयं कर्ता-भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा, जन्मने-मरनेवाला नहीं है। देहकी उपाधिके विना कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं होता; क्योंकि कर्मेन्द्रियोंके कारण कर्तृत्व तथा ज्ञानेन्द्रियोंके कारण भोक्तृत्वका आरोप पुरुषमें होता है। देशकी उपाधिके बिना आने-जानेवाला नहीं होता और कालकी उपाधिके बिना जन्मने-मरनेवाला नहीं होता।

यह जो अस्थि-मांस, रक्त-मेद, मल-मूत्रकी चमड़ेमें लिपटी पुड़िया-देह है, इसीको 'मैं' मानकर, इसके जन्म-मृत्युका अपनेमें आरोप करके यह पुरुष क्षर हो गया है। भगवान् इसे इस स्थितिसे निकालना चाहते हैं।

अक्षर पुरुष कारणरूपसे रहता है। उसीमें सृष्टि, स्थित्ति, प्रलय होते हैं। वह परिणामी है। सृष्टिके समस्त बीज उसमें निहित्त हैं। इसी अक्षर पुरुषको अद्वैतवादी एकजीव, अनेकजीव, हिरण्यगर्भ, कार्योपाधिक जीव और कारणोपाधिक ईश्वर कहते हैं। पुरुषका जो वास्तविक स्वरूप है, वह दोनों-क्षर-अक्षरसे उत्तम है। उत्तमता उसमें यह है कि न क्षर पुरुषके समान जन्म-मरण है और न अक्षर पुरुषके समान अविद्या बीज ही उसमें है। उसमें न कार्य है, न बीज। वह केवल उत्तम ही नहीं, अन्य भी है। कार्यकी अपेक्षासे कारण और कारणकी अपेक्षासे कार्य रहता है; किन्तु वह कार्य-कारण दोनों भावसे निरपेक्ष है। एक प्राचीन स्तोत्र है।

'सति कार्यत्वे कारणता स्यात् कारणसत्त्वे कार्यत्वं स्यात्।
कार्यकारणाभावे कस्मात् जीवेशौ वा तत्त्वमसि॥'

कार्यकी सिद्धि हो तब कारणकी सिद्धि हो। पुत्र हो तो पिता हो। जबतक पुत्र नहीं हुआ, कोई पिता कैसे कहला सकता है? कारणकी सिद्धि हो, तव कार्यकी सिद्धि हो। कोई पुत्र बिना पिताके तो हो नहीं सकता। इसलिए कार्य-कारण भाव परस्पर सापेक्ष हैं। इसलिए दोनोंका बाध हो गया।

पञ्चभूतोंमें पहिले पुत्र या पहिले पिता? कोई घड़ा किसी

घड़ेका न पुत्र होता, न पिता। सम्बन्ध जितने हैं, सब कल्पित हैं, माने हुए हैं। न तो कोई किसीका माता-पिता है और न पुत्र। यह तो शरीरके उत्पत्तिकी एक प्रक्रिया है। एक जीव पृथिवीसे चन्द्रमामें गया, वहाँसे चन्द्रकिरणमें आया, किरणोंसे बादलमें, बादलसे वर्षाके जलमें, जलसे भूमिमें, भूमिसे तृण, अन्न या फलमें। तृणसे पशुके देहमें दूध बनकर या अन्न, फलके द्वारा पुरुषके देहमें आया। यहाँ आकर कुछ शक्ति—भोजन लेकर उसने वहाँ बीजका रूप प्राप्त किया और वहाँसे स्त्रीके गर्भमें आया। स्त्रीके गर्भसे उसने मनुष्य देह प्राप्त किया।

गेहूँका बीज खेतमें पड़ता है। उसमें पञ्चभूत ही अंकुरका रूप लेते हैं। पञ्चभूत ही पौधा बनते हैं और वही गेहूँ बनते हैं। पीपल, वटके फल पक्षी खा लेते हैं। इन फलोंके बीज वैसे बोनेपर नहीं उगते। पक्षीके पेटकी अग्निसे वे कुछ नरम हो जाते हैं और उसके बीटके साथ निकलनेपर उगते हैं। कोई भी इन वृक्षोंको पक्षियोंका पुत्र नहीं मानता, इसलिए कि इनकी आकृति पक्षी जैसी नहीं है, लेकिन है यह सब केवल जन्मकी एक प्रक्रिया। इसमें कहीं भी कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है।

'दृश्यमाना इमे भावाः परस्परमसंगिनः।
कार्यकारणता नास्ति भावनैतेषु शृङ्खला॥'

ये जितने दृश्यभाव हैं, इनमें परस्पर कोई कार्य-कारणका सम्बन्ध नहीं है। यह जो सम्बन्धकी शृङ्खला है, वह केवल भावना है। माँ-बापसे भी दृढ़ सम्बन्ध लोग पति-पत्नीका मानते हैं। पत्नी

तो पतिके लिए अपने माँ-बापको छोड़कर आती ही है, पति भी अनेक वार पत्नीके लिए माता-पिताको छोड़ देता है। अब पति-पत्नी का सम्बन्ध केवल भावनाका, कुछ क्रिया-संस्कारोंका ही तो है। उनके शरीरोंमें कौन-सा भौतिक सम्वन्ध है ?

गुरु-शिष्यका सम्बन्ध कहाँ भौतिक है ? लेकिन गुरुके लिए जीवन तक उत्सर्ग कर देनेवाले शिष्य हुए हैं और यह वर्णन भी मिलता है कि शिष्यके कल्याणके लिए गुरुने मोक्ष स्वीकार न करके पुनः जन्म धारण किया। इसी प्रकार दत्तक पुत्र कहाँ देहसे सम्बद्ध होता है। लेकिन उसमें भी बहुत मोह देखा गया। इसलिए वस्तुएँ तो भौतिक हैं; किन्तु उसमें जो कार्य-कारणके सम्बन्धकी कल्पना है, वह सर्वथा मानसिक है। सम्बन्धमात्र मानसिक ही होते हैं।

अव यदि तुम्हें मानसिक सम्बन्ध ही बनाना है तो जन्मने-मरनेवाले देहसे बनाकर क्यों दुःख और जन्म—मृत्युके चक्रमें पड़ते हो ? सम्बन्ध उससे बनाओ जो नित्य है, अविनाशी है। उससे मानसिक सम्बन्ध बनानेसे भी तुम्हारा कल्याण हो जायगा। मीराबाईने कहा—

'ऐसे बरको के बरूँ, जो जणमे औ मर जाय।
बर बरिये गोपालजी म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥'

दो बच्चे गंगाजीकी रेतपर खेल रहे थे। उनमें-से एकने कहा—'आओ झूठमूठका सत्तू खायँ।'

दूसरा बोला—'जब झूठमूठका ही खाना है तो सत्तू क्यों खायँ, झूठमूठका लड्डू क्यों न खाया जाय ?'

अतः झूठमूठका कल्पित सम्बन्ध ही बनाना है तो वह भगवान्‌से बनाओ। भगवान् कभी कृतघ्न नहीं होगा, कभी निष्ठुर नहीं होगा। उसे ही अपना बनाओ तो न रोना पड़ेगा और न भटकना।

जो बिछुड़े हैं पियारेंसे भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमनको बेकरारी क्या॥'

जो वस्तुएँ मरती हैं—नष्ट होती हैं और बदलती हैं, वह सत्य नहीं हैं। सभी वस्तुएँ सापेक्ष हैं। कार्य कारणके और कारण कार्यके सापेक्ष है। उत्तम पुरुष निरपेक्ष है। वह न विनाशी है, न परिवर्तनशील। वह अविनाशी, निर्विकार है। पुरुषोत्तममें विषय-विषयी, भोग्य-भोक्ता, प्रकाश्य-प्रकाशक, ज्ञेय-ज्ञाता—ये भाव नहीं हैं। वह इनसे पृथक्—इनसे अलिप्त है, इसीलिए उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। यदि वह क्षर-अक्षर, दृश्य-विकारीसे उत्तम होकर भी इन्हींसे मिला रहे तो अध्यासवश इनके जन्म-मृत्युसे अपनेको जन्मने-मरनेवाला मानने लगेगा। इनके विकारोंसे अपनेको विकृत हुआ मानेगा। इसका निषेध करनेके लिए कहते हैं कि वह 'अन्य' है, इन क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष दोनोंसे विलक्षण है। जैसे घड़ा मिट्टीसे ही बना है; किन्तु मिट्टी घड़ेसे विलक्षण है। घड़ेके टूटने-फूटने-नष्ट होनेसे मिट्टीका कुछ नहीं बिगड़ता।

अब क्षर-अक्षरसे विलक्षण उस पुरुषोत्तमको ढूँढ़ो। 'अन्न-रसमयः पूरुषः' श्रुति देहको ही आत्मा माननेवालेको कहती है, यह पुरुष अन्नके रसवाला है। यह अन्नमय कोष है, परमात्मा नहीं है। क्योंकि देह कभी बालक था, युवा हुआ, बूढ़ा हो गया; किन्तु तुम तो वही हो जो बालक-देहमें थे, युवा-देहमें थे, बूढ़े-देहमें हो। देहके बदलनेसे तुम बदले नहीं हो। अतः देह तुम नहीं हो। देहसे तुम अन्य हो।

'अन्योऽसावात्मा प्राणमयः' देहसे भिन्न यह आत्मा प्राणमय है। यह प्राणमय कोषका वर्णन है। प्राणका कार्य हैं गति देना। शरीरमें जो चलने-फिरने, हाथ-पैर हिलानेकी शक्ति है, रुधिराभि-सरण, श्वासोच्छ्वास आदिकी क्रिया हैं, यह प्राणमय कोष है। तब क्या तुम क्रियाशक्ति हो? लेकिन सुषुप्तिमें जब क्रिया नहीं रहती, तुम रहते हो। समाधिमें जब रुधिराभिसरण नहीं होता, श्वास-प्रश्वास नहीं चलता, तुम रहते हो। अतः तुम क्रियाशक्ति नहीं, शक्तिसे अन्य हो।

'अन्योऽसावात्मा मनोमयः' यह मनोमय कोषका वर्णन है। तुम क्रिया शक्ति नहीं, तो यह जो संकल्प-विकल्प होता है, इच्छा होती है, तो क्या तुम यह हो? अब देखो कि किसीको लकवा हो जाता है। वह चाहता है कि हाथ उठाये, किन्तु उठा नहीं पाता। इच्छा रहती है और हाथ भी रहता है; किन्तु प्राणशक्ति नहीं रहती। लेकिन प्राणशक्तिके न रहनेपर, अन्नमय कोष हाथके अलग झूल जानेपर भी रहता है। सुषुप्तिमें, मूर्च्छामें इच्छा भी

नहीं रह जाती; किन्तु तुम रहते हो। इसलिए तुम इच्छाशक्ति—मन नहीं हो। तुम मनोमय कोषसे अन्य हो।

'अन्योऽसावात्मा विज्ञानमयः' यह जो बुद्धि विचार करती है—यह विवेककी शक्ति विज्ञानमय कोष है। लेकिन सुषुप्तिमें बुद्धिका भी पता नहीं रहता। तुम उस समय रहते हो, अतः तुम विज्ञानमय कोष भी नहीं हो।

'अन्योऽसावात्मा आनन्दमयः' यह आनन्दमय कोषका वर्णन है। यह जो तुम्हें सुख होता है, मज़ा आता है, यही आनन्दमय कोष है। लेकिन जब तुम्हें दुःख होता है, जब मज़ा नहीं आता, तब भी तो तुम रहते हो। इसलिए तुम आनन्दमय कोष नहीं हो। तुम इससे अन्य हो।

इन अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पाँचों कोषोंसे अन्य छठा आत्मा है। जिससे तुम अन्य हो, जिससे पृथक् हो, उसे तुमने अपना स्वरूप मान लिया है। इसीलिए उनके कर्तापन, भोक्तापन, जन्म, मृत्यु, परिवर्तनको तुम अपनेमें आरोपित करके अपनेको कर्ता-भोक्ता, जन्मने-मरनेवाला और विकारी मानते हो।

'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।' ये अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष अपर पुरुष हैं और इनसे 'अन्य' जो है, वह पर पुरुष है। उसे परमात्मा कहते हैं। वह इस शरीरमें ही है।

'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥'

'शरीरस्थो', 'देहेऽस्मिन्'के द्वारा उस परमात्माके स्थानका निश्चय हो गया। विशाल ब्रह्माण्डमें उसे नहीं ढूँढ़ना है। वह इस साढ़े तीन हाथके शरीरमें ही है। गीतामें भगवान्ने प्रायः सब कहीं परमात्माका वर्णन शरीरमें ही किया है।

'अधियज्ञोऽहमेवात्र देह'

जैसे किसीका हीरा खो गया। अब उसे पक्का पता है कि कहीं कमरेके भीतर ही खोया है, इससे निश्चन्तता हो गयी। बाहर कहीं खोया होता तो पता नहीं कहाँ-कहाँ भटकना पड़ता? कमरे में ही खोया है तो कमरेकी एक-एक वस्तु हटाकर, झाड़-फटकार करके उसे ढूँढ़ लेंगे।

'परमात्मेत्युदाहृतः' इसका तात्पर्य है कि वह जो क्षर और अक्षरसे अन्य उत्तम पुरुष है, उसीको शास्त्र परमात्मा कहते हैं। परमात्मा उसका नाम है। जैसे परम मित्र कहा जाता है तो वह मित्र तो है ही, 'परम'का तात्पर्य घनिष्ठसे है। परम मधुर कहा तो वह मधुर तो है ही, अत्यधिक मधुर है, यह बतानेके लिए मधुरके साथ 'परम' लगा दिया। इसी प्रकार परमात्मामें जो परम शब्द है, वह आत्माके निर्विशेष, सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश, देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न रूपका सूचक है।

ऐसा परमात्मा कहाँ है? 'देहेऽस्मिन्' इस देहमें ही है। 'मेरा हीरा हेराय गयो कचरेमें।' यह जो देहका कूड़ा है, उसमें वह हीरा खो गया है। यह हड्डी, मेद, मज्जा, मांस, रक्त, चर्म, मल-मूत्र, कफ आदिका देह और इसमें क्रिया, भोग, संकल्प,

अभिमान तथा विषयमें रजकी जो दुर्गन्ध है, उसीमें परमात्मारूपी हीरा खो गया है।

अब आत्माका परमरूप इस कचरेमें ढूँढ़ो। हड्डी-मांस-चमड़ेके देहको—अन्नमयकोषको पृथक् करो। कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाको—प्राणमय कोषको पृथक् करो, ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रिया भोगको पृथक् करो। मनकी क्रिया—संकल्प, मनोराज्य—मनोमय कोषको पृथक् करो, तर्क-वितर्कमें लगनेकी क्रिया बुद्धिको—विज्ञानमय कोषको पृथक् करो, विषयमें जो रस आ रहा है, सुख है, उस आनन्दमय कोषको पृथक् करो और अभिमानको कर्ता-भोक्तापनके, देह-प्राण-मन-बुद्धिके अभिमानको छोड़ो, तब वह इस कूड़ेमें खोया हीरा प्राप्त होगा। जिसमें-से यह कूड़ा निकलता है, उसी देहमें वह परमात्मा प्राप्त होगा।

कोई चोर एक तम्बूमें घुसा। उसे पता लग गया कि खजाना तम्बूके पर्देके दूसरी ओर ही है। अब उसे न नींद और न विश्राम। कब पर्दा फाड़े और कब खजाना उठाये। ऐसी ही व्याकुलता—ऐसी ही उत्कण्ठा परमात्माकी प्राप्तिके लिए होनी चाहिए। एक पगली छलाँग लगायी और परमात्मा मिल गया। वह अपने देहमें ही है तो फिर कहाँ दुर्लभ है?

'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूँढ़न चली रही किनारे बैठ॥'

'यो लोकत्रयमाविश्य' परमात्मा हमारे देहमें ही है तो दूसरोंके देहमें नहीं होगा, हमारे शरीरसे परिच्छिन्न होगा, ऐसी शंका नहीं होनी चाहिए। वह तीनों लोकोंमें प्रविष्ट है।

'लोकत्रय' अब कहो कि स्वर्ग-पाताल तो हमने देखे नहीं। वे पता नहीं, हैं भी या नहीं। हम तो केवल इस पृथिवी लोकको जानते हैं।' लेकिन तीनों लोक तो यहाँ भी प्रत्यक्ष हैं। स्वामी रामतीर्थने कहा था—'लोग जाग्रत् अवस्थाको ही सत्य मानकर सोचते हैं। स्वप्न और सुषुप्ति भी अवस्था हैं, इसे वे सोचते हो नहीं।' अपनी दो अवस्थाओंका तिरस्कार क्यों करते हो ? सुषुप्ति तमः प्रधान है, नरक भी तमः प्रधान है। व्यष्टिमें नरक या पाताल—यह सुषुप्ति अवस्था है। स्वप्न कल्पना प्रधान, संकल्प प्रधान है। स्वर्ग भी तो कर्मसंस्कार-निर्मित ही है और जाग्रत् वासनाका व्यवहार-काल, यह संसार है। समाधि शान्तिकाल, तुरीयावस्था है। स्वर्ग, नरक, मृत्युलोक—ये तीन लोक अथवा जाग्रत्का लोक, स्वप्नका लोक, सुषुप्तिका लोक—ये तीन लोक। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनोंके आलोक—तीनोंसे प्रकाशित अवस्थाएँ—ये तीनों लोक, इनमें परमात्मा 'आविश्य' प्रविष्ट है। प्रविष्ट होकर 'बिभर्ति' इनको धारण करता है।

परमात्मा कैसे प्रविष्ट है ? जैसे घरमें मनुष्य अथवा पिंजड़ेमें पक्षी प्रवेश करता है, उस प्रकार। लेकिन ऐसा प्रवेश तो तभी सम्भव होता है जब एक देशमें स्थित व्यक्ति दूसरे देशमें प्रवेश करे। जो जहाँ न हो, वहाँ प्रवेश करता है। पूर्वसे पश्चिम अथवा अन्तर्देशसे वहिर्देशमें प्रवेश, बहिर्देशसे अन्तर्देशमें प्रवेश तभी सम्भव है, जब कि पहिलेसे वहाँ वह उपस्थित न हो। परमात्मामें तो पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे और अन्तर्देश, बहिर्देशका

भेद नहीं है। वह तो सर्वव्यापक है। सर्वत्र भरपूर है। तब उसका इस प्रकार प्रवेश कैसे सम्भव है ?

जो एक कालमें नहीं था, वह उस कालमें प्रवेश करता है ? जैसे आपके यहाँ एक पुत्र हुआ। लेकिन कालका कोई विभाग ऐसा नहीं, जिसमें परमात्मा न हो।

लोहेके गोलेको अग्निमें डाल दिया। उस गोलेमें अग्निका प्रवेश हो गया। गोलेका ठोसपना लोहेका है और जलानेका गुण उसमें अग्निका है। यह एक तत्त्वका—वस्तुका दूसरी वस्तुमें प्रवेश हुआ। लेकिन अग्नि अपने कार्यमें या अपने स्वरूपमें ही प्रवेश कर सकता है, अपने कारणमें प्रवेश नहीं कर सकता। अग्नि मिट्टी, पानीको उष्ण कर सकता है; क्योंकि ये उसके कार्य हैं। वह स्वर्णको भी गरम कर सकता है; क्योंकि वह अग्निका स्वरूप है; किन्तु अग्नि न वायुको गरम कर सकता है और न आकाशको ही। वायुमें रहे मिट्टीके कण या जलकी वाष्पको ही अग्नि गरम करता है। यह परमात्मा सर्वकारण कारण है, अतः इसे अग्नि गरम नहीं कर सकता 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' 'अछेद्योऽयमदाह्योऽयम्।' वस्तु अपने कार्यमें ही व्यापक होती है, अन्यमें नहीं। यह परमात्मा तीनों लोकोंमें भरपूर है अर्थात तीनों लोकोंका यह परम कारण है।

'बिभर्ति' तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर परमात्मा उनका धारण और पोषण कर रहा है। 'बिभृ धारणपोषणयोः' बिभर्तिका अर्थ धारण करना और पोषण करना, दोनों ही है। ऐसा वह कैसे कर पाता है ? 'ईश्वरः' समर्थ है। जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट है, उनको

धारण किये है, लोकोंके नाशसे, परिवर्तनसे उसका नाश, उसमें परिवर्तनकी सम्भावना है ? इसका निराकरण करते हैं 'अव्ययः' वह अविनाशी है। उसमें लोक बनते हैं, रहते हैं, नष्ट हो जाते हैं; किन्तु वह सदा एकरस रहता है। उसका विनाश नहीं होता।

परमात्मामें छः विशेषताएँ है—१. क्षर-अक्षरसे विलक्षणत्व २. देहस्थ होनेपर भी देहादिसे अलिप्तत्व ३. लोकत्रय-व्यापकत्व ४. भरण-पोषणकारित्व ५. अविनाशित्व और ६. ईशत्व। भगवान्‌में भी छः विशेषताएँ बतायी जाती हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

सम्पूर्ण रूपसे ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्यका होना 'भग' कहा जाता है और जिसमें ये पूर्ण हों, वह भगवान् कहलाता है। भगवान्‌के ये लक्षण उनके गुण जान पड़ते हैं; किन्तु परमात्माके जो छः लक्षण ऊपर कहे गये हैं, वे उसके स्वरूप जान पड़ते हैं। परमात्माके ये छः लक्षण न क्षरमें हैं और न अक्षरमें। परमात्मा अपनी देहके पारम्यमें ही अवस्थित है। वह देहसे परिच्छिन्न नहीं है। परमात्माके लोकत्रयमें प्रवेशको समझना चाहिए। श्रुति कहती है—

'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।'

इस श्रुतिका ही अनुकरण 'आविश्य'में है। मुँहमें ग्रासके समान तो परमात्मा प्रवेश कर नहीं सकता। सृष्टिमें कोई क्षणभरका काल, सुईकी नोक रखने जितना देश और एक कण

भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसमें पहिलेसे परमात्मा विद्यमान न हो। अतः प्रवेशका अर्थ है कि परमात्माने तादात्म्यको स्वीकार किया। 'मैं सम्पूर्ण जगत्की अन्तरात्मा हूँ, जगत् मेरा ही स्वरूप है।' ऐसा उसने स्वीकार किया, यही उसका प्रवेश है।

'लोकत्रय' तीन प्रकारकी सृष्टि है—तमःप्रचुर, रजःप्रचुर और सत्त्वप्रचुर। तमःप्रचुर वृक्ष, पत्थर आदि हैं। पशु-पक्षी-मनुष्य सब रजःप्रचुर हैं और देवता सत्त्वप्रचुर हैं। मनुष्य साधनके द्वारा दैवी सम्पत्तिका सम्पादन करके सत्त्वप्रचुर होता है।

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥'

सत्त्वमें स्थित पुरुष ऊपर जाता है, रजोगुणी मध्यमें रहता है और निन्दित वृत्तिवाला तमोगुणी नीचे जाता है। इस प्रकार जीवकी गतिके जो तीन स्थान स्वर्गादि ऊर्ध्व-लोक, पृथिवीका मध्यलोक और नरकादि निम्नलोक गीतामें ही बताये गये हैं, वे तीनों लोक हैं।

सत्में केवल आकार बनता है, बुद्धि नहीं होती। चित्में आकार और बुद्धि दोनों होते हैं; किन्तु सुख नहीं और आनन्दमें आकार, बुद्धि तथा सुख तीनों ही होते हैं। केवल सत्तावाले आधिभौतिक तत्त्व हैं। पञ्चतत्त्वोंसे लेकर अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति सब इसमें हैं। सत् और चित्वाले आध्यात्मिक हैं। इनमें सभी प्राणधारी हैं। सत्, चित् और आनन्द तीनों जिनमें हैं, वे आधिदैविक सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवता हैं। सत्ताका विवर्त

आकार है, चित्में विवर्त बुद्धि है और आनन्दमें विवर्त विषयजन्य सुख हैं। इन सब अवस्थाओं, गुणों एवं स्थानोंमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा व्याप्त है।

इन सब लोकोके प्रकट होने, रहने अथवा लय होनेसे परमात्मापर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। वह एकरस रहता है। इनके जन्म-मरण तथा परिवर्तनका उसपर कोई प्रभाव नहीं, यह बात 'अव्यय'के द्वारा बतलायी गयी।

वह परमात्मा कर्मेन्द्रियोंमें कर्माश्रय सत्ताप्रचुर, ज्ञानेन्द्रियोंमें ज्ञानाश्रय सत्ताप्रचुर एवं अन्तःकरण रूप आसाधारण करणमें भोक्ताकी सत्ताके रूपमें, ब्रह्मा-विष्णु, रुद्रमें, सत्त्व-रज तममें—इस प्रकार जितना त्रिविध जगत् है, सबमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण कर रहा है। जैसे आपने पौधा लगाया, उसे सींचकर बढ़ाया और समय आनेपर काट भी दिया, उसी प्रकार इस समस्त लोकमें कर्ता, भोक्ता, नियन्ता सृष्टि, स्थिति, प्रलयकी सब उपाधि उसी परमात्माने धारण कर रखी है।

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'

इस श्रुतिके अनुसार क्षर और अक्षर—तीनों लोक वाचारम्भ हैं, ये विकार नामधेय—विकृत होनेवाले कहलाते हैं। मृत्तिकास्थानीय परमात्मा ही सत्य है। वही सर्वत्र परिपूर्ण है। वही सबका धारण-पोषण करता है। पिताके देहमें उसीने तुम्हारा पोषण किया। माताके गर्भमें उसीने तुम्हें पुष्ट किया। वही पृथिवीके रूपमें तुम्हारा धारण कर रहा है। वही तुम्हारा भोजन बना

है और वही पेटमें भूख बनकर उस भोजनको पचाता है। 'पुष्णामि चौषधोः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।' और 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।' यह बात भगवान् इसी अध्यायमें कह चुके हैं।

परमात्मा जगत्का कारण है, उसमें व्याप्त है, उसका धारण-पोषण करता है। कभी-कभी कार्यके नाशसे कारणका नाश देखा जाता है। यह सम्भावना परमात्मामें नहीं है, यह बात 'अव्यय' कहकर बता दी गयी। आय-व्यय आप समझते हैं। 'अभिमुखमेति इति आयः' जो धन अपनी ओर आता है, वह आय है और "विपरीतमेति इति व्ययः'। जो अपने पाससे उलटे-दूसरेकी ओर जाता है, वह व्यय है। परमात्मा 'अव्यय' है, का अर्थ है कि सृष्टि बने, रहे या मिट जाय, परमात्माका कुछ व्यय नहीं होता। उसमें तनिक भी घटता या परिवर्तित नहीं होता। न कालमें, न देशमें, न वस्तुमें ही परमात्माका कुछ घटता है।

यह कैसे होता है ? 'ईश्वरः' परमात्मा समर्थ है, स्वामी है। वेदान्ती कहते हैं—'उपाध्यसंसृष्टत्वं ईश्वरत्वम्' उपाधियोंसे संसक्त न होना ईश्वरत्व है। राजाकी उपाधि होती है रानी, राजकुमार, मन्त्री, कोषाध्यक्ष, सेनापति आदि। लेकिन यदि राजा इनमें-से किसीके वश हो जाय तो वह स्वामी कहाँ रहा ? स्वामी तो वह हो गया जो राजाको वशमें रखे। परमात्मा ईश्वर है—वह स्वामी है। अतः वह किसी उपाधिके वशमें नहीं। प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चभूत आदि उपाधियाँ हैं। ये रहें, नष्ट हों, या प्रकट हों—परमात्मा इनसे अप्रभावित, असंश्लिष्ट रहता है।

'स कारणं कारणाधिपः' यह श्वेताश्वतरोपनिषद्की श्रुति है। आकारके साथ विकार लगा है। यह आकार-विकार परमात्माका स्वरूप नहीं है। आकार और विकारवान् उत्तम नहीं है। आकारवान् क्षर पुरुष है और विकारवान् अव्याकृत अक्षर पुरुष। जिसमें-से करण निकलें, जिसमें रहें और जिसमें लय हों, वह कारण कहा जाता है। वह कारण अव्याकृत है। उसमें कारणके बीज रहते हैं। कारण संस्कार रहते हैं। कार्य-कारण, सृष्टि-प्रलयसे पृथक् रहकर जो इस खेलका द्रष्टा है, वह परमात्मा है। पञ्चभूत, मन, बुद्धि आदि सबको ईश्वरने अपनी प्रसन्नताके लिए खेलके लिए बनाया है। जो इस खेलमें लगे—खेल बन गये वे संसारी हैं, वे दुःखी हैं। जो खेलनेवालेके साथ है, उसे देखता है, वह संसारी नहीं है, वह प्रसन्न है।

श्रीधरस्वामी इस श्लोकका दूसरी प्रकारसे अर्थ करते हैं। उनका कहना है कि प्रकृति तथा प्रकृतिके सब कार्य क्षर पुरुष और जीव अक्षर पुरुष है। अलग-अलग शरीरोंमें जो अलग-अलग जीव हैं, उन्हें वेदान्ती लोग चिदाभास कहते हैं। कार्यमें चेतनका आभास होनेसे वह पापी—पुण्यात्मा है। पुरुषोत्तम उससे अन्य उत्तम है। शरीरको 'मैं' स्वीकार करके शरीर द्वारा किये पाप-पुण्यको अपनेमें आरोपित करके जीव पापी-पुण्यात्मा बनता है और स्वर्ग-नरक जाता है। गरुड़ पुराणमें आया है—

'अदत्तदानाच्च भवेद्दरिद्रः दरिद्रभावाच्च करोति पापम्।
पापप्रभावान्नरकं प्रयाति पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी॥'

पापकी परम्परा चलती है। उपार्जन करे और दान न करे

तो मनुष्य अगले जन्ममें दरिद्र होता है। दरिद्रतामें अभाव-पीड़ित होकर अनेक उपद्रव करता है। उपद्रवोंके फलस्वरूप नरक जाता है। नरक भोगकर फिर दरिद्र होता है, फिर पाप करता है। इस प्रकार यह परम्परा चलती ही रहती है।

कोई यज्ञ, दान आदि करनेवाला पुण्यात्मा ही हुआ तो क्या होगा? पुण्यके फलसे स्वर्ग जायगा। जैसे कोई होटलमें ठहरे, ऐसी अवस्था है। जब तक होटलका बिल चुकाते रहो, वहाँ रह सकते हो। जेब खाली होते ही निकाल दिये जाओगे। स्वर्गमें जहाँ पुण्य समाप्त हुआ, वहाँसे निकाले गये। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इस प्रकार जो क्षणमें सुखी, क्षणमें दुःखी होनेवाला पुरुष है, वह उत्तम पुरुष कैसे हो सकता है?

अपनेको देह मत मानो। जीव मानो तो पता लगेगा कि जीवन अनन्त है। उसमें इस देहके सौ-पचास वर्षके जीवनका महत्त्व क्षण जितना भी नहीं है। इस क्षणभरसे भी नगण्य समयके लिए हँसने रोनेवाला, उत्तम पुरुष नहीं है। यह तो अधम पुरुष है, जिसका न कहीं घर है, न बैठनेका ठिकाना। कभी स्वर्ग, कभी नरक, कभी पशु, कभी पक्षी, कीड़े-मकोड़ेकी नाना योनियोंमें भटक रहा है। प्रत्येक बातमें यह अभावका अनुभव करता है। किसी विषयमें परिपूर्ण नहीं है। इसका न कोई मित्र है, न सम्बन्धी। यह परिच्छिन्न-परकटे पक्षीके समान है। कालने इसे काटकर सौ-पचास वर्षकी आयुका, देशने काटकर साढ़े तीन हाथकी देहका और वस्तुने काटकर देहके वजनका बना दिया है। यह तो अधम पुरुष है। उत्तम पुरुष 'अन्य' इससे विलक्षण है। वह दुःखी-सुखी, पापी-पुण्यात्मा,

परिच्छिन्न, संसारी नहीं होता। 'लोकत्रयमाविश्य बिभर्ति' तीनों लोक उसका घर है। वह इस अपने पूरे घरका धारण-रक्षण और पालन-पोषण करता है।

छत्रपति शिवाजीके राज्यमें एक बार दुर्भिक्ष पड़ा। (यह दुर्भिक्ष और सुभिक्ष शब्द महात्माओंका है। विरक्त, पेड़के नीचे या कुटियामें रहनेवाले सन्तोंको क्या पता कि संसारके सामान्य लोग सुखी हैं या दुःखी। वे तो भिक्षा लेने जाते हैं। नियम है कि संन्यासी सात घरसे ही भिक्षा ले। सात घरोंमें पेट भरने जितना भोजन मिल गया तो बोले—'आजकल सुभिक्ष है।' अर्थात् भिक्षा सरलतासे मिल जाती है। यदि भिक्षा मिलनेमें कष्ट होने लगा, सात घरोंसे पर्याप्त भिक्षा नहीं मिली तो बोले—'अब दुर्भिक्ष पड़ गया है अर्थात् भिक्षा बड़े कष्टसे मिलती है।') वर्षा हुई नहीं, खेतोंमें कुछ नहीं हुआ। लोग भूखों तड़पने लगे। छत्रपति शिवाजीने अपने राज्य में स्थान-स्थानपर किले, सरोवर, कुएँ बनवाने प्रारम्भ कर दिये, जिससे लोगोंको काम मिले, भोजन मिले।

भीड़-की-भीड़ मजदूरी करनेमें जब जुट गयी तो छत्रपतिको लगा कि मैं इतने लोगोंका पालन कर रहा हूँ। यह बात रामदास स्वामीको अच्छी नहीं लगी। ये महापुरुष अपने आश्रितोंमें दोष रहने नहीं देते और अहंकार तो सबसे बड़ा दोष है। श्रीसमर्थने आकर कहा—'शिवा, तनिक हथौड़ा उठाकर वह पत्थर तो तोड़ दे!'

गुरुदेवकी आज्ञा थी। छत्रपतिने स्वयं हथौड़ा उठाया और पत्थरपर मारा। पत्थर दो टूकड़े हो गया। उसके भीतरसे

थोड़ा-सा पानी और एक कीड़ा निकला। उस कीड़ेके मुखमें चावलका एक दाना था। छत्रपति चकित देखते रहे। श्रीसमर्थ-ने कहा—'शिवा, पत्थरके भीतर इस कीड़ेको पानी और चावलका दाना तू तो नहीं पहुँचा सकता था? जो इसे पत्थरमें अन्न और जल पहुँचाता है, वह ईश्वर है। वही तीनों लोकोंका पालन-पोषण करता है।'

मेरे पितामह मुझे बचपनमें कथाएँ सुनाया करते थे। उन्होंने मुझे यह कथा सुनायी थी कि विजयनगर राज्यके महाराज अपने मन्त्रीके साथ महलकी छतपर एक दिन टहल रहे थे। मन्त्रीने बातचीतमें कहा—'ईश्वरकी उपासनासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है।' श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीधरस्वामी उस समय सोलह-सत्रह वर्षके थे। वे वज्रमूर्ख थे। महाराजकी दृष्टि नीचे गयी तो उन्होंने देखा कि एक ब्राह्मणकुमार जूतेमें तेल लिये जा रहा है। उत्सुकतावश उन्होंने उस युवकको बुलवाया और पूछा—'तुम जूतेमें तेल क्यों ले जा रहे हो?

श्रीधर—'मैं तेलीके घर तेल लेने गया था। तेल अधिक था और पात्र छोटा। इसलिए बचा हुआ तेल मैंने जूतेमें ले लिया।'

महाराजने मन्त्रीसे पूछा—'ऐसे मूर्खको भी क्या भगवान्‌की उपासनासे विद्वान् बनाया जा सकता है?'

मन्त्रीने स्वीकार किया—'अवश्य बनाया जा सकता है।

महाराज—'तब इसे विद्वान् बनाओ!'

श्रीधरने अपने माता-पिताके भरण-पोषणकी चर्चा की। राज्यकी ओरसे उसका प्रबन्ध हो गया। मन्त्रीने श्रीधरको नृसिंह तापिनी उपनिषद्‌में वर्णित भगवान् नृसिंहके मन्त्रराजका अनुष्ठान करनेमें लगा दिया। जपसे उत्तम सिद्धि प्राप्त करनेका दूसरा मार्ग नहीं है—'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।'

एक दिन श्रीधर अकेले मन्दिरमें बैठे जप कर रहे थे। मन्दिरमें ऊपर पक्षीका घोंसला था। सहसा उस घोंसलेसे एक अण्डा गिरा और फूट गया। अण्डेके भीतरसे नन्हा-सा पक्षीका बच्चा निकला। वह बार-बार मुख खोलता और बन्द कर लेता था। श्रीधर उस बच्चेकी ओर देख रहे थे। उन्हें लगा कि कुछ ही क्षणोंमें यह मर जायगा। अचानक उड़ती हुई दो मक्खियाँ लड़ पड़ीं और जब पक्षी के बच्चेने मुख खोला, वे लड़ते हुए ही ठीक उसके मुखमें जा गिरीं। बच्चेका मुख बन्द हो गया।

श्रीधर चौंक पड़े और सोचने लगे—'यह असहाय पक्षीका बच्चा मरने ही वाला था। इसको भोजन देनेका जिसने यह अद्भुत ढङ्ग निकाल लिया, वह मेरा और मेरे माता-पिताका पालन क्यों नहीं करेगा? राज्यकी सहायता लेना उन्होंने बन्द कर दिया। भगवान् नृसिंहके उनको दर्शन हुए और भगवान्‌की कृपासे उन्हें विद्याकी ऐसी प्राप्ति हुई कि कहा जाता है—

'व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंह प्रसादतः॥'

श्रीमद्भागवतका ठीक-ठीक तात्पर्य भगवान् व्यास जानते हैं और परमहंस शिरोमणि शुकदेवजी जानते हैं, राजा परीक्षित जान सके या नहीं, इसमें सन्देह है; किन्तु श्रीधरस्वामी भगवान् नृसिंहकी कृपासे सम्पूर्ण तात्पर्य जानते हैं।

श्री करपात्रीजी महाराजने जब दिल्लीमें यज्ञ किया था, तब मैं उसमें सम्मिलित होने रेलसे वहाँ जा रहा था। खण्डवा स्टेशनपर लोग मिलने आये। वे इतना भोजन लाये थे कि हमारे डब्बेमें जितने लोग थे, सबको भली प्रकार हमने खिलाया। उसमें एक पंजाबी वृद्ध थे। उन्होंने कहा—'मैं रोगी हूँ। बाजारका भोजन अनुकूल नहीं पड़ता। भगवान्की कितनी कृपा है कि उन्होंने यह व्यवस्था कर दी।'

उन पंजाबी सज्जनने एक कथा सुनायी—एक वनमें एक साधु रहते थे। कोई गृहस्थ अपना एक बच्चा उन्हें दे गया। लोगोंके सन्तान नहीं होती थी तो वे पहिली सन्तान किसी महात्माको दे देनेकी मनौती करते थे। यह प्रथा अब भी कहीं-कहीं है। साधुने उस बच्चेका पालन किया। वनमें ही वह बालक बड़ा हुआ। उसे बस्तीमें आनेका कभी अवसर नहीं मिला। कालान्तरमें साधुका शरीर छूट गया। बालकने उनकी देह नदीमें विसर्जित कर दी और स्वयं भजन करने बैठ गया। उसे पता ही नहीं था कि भिक्षा लेने भी जाना पड़ता है।

जंगलमें एक बुढ़िया लकड़ी लेने आयी। उसने उस युवक साधुको देखा। बुढ़िया अपने खानेके लिए चार रोटी लायी थी।

उसमें-से दो उसने साधुको दे दी। उस दिनसे बुढ़िया प्रतिदिन उस युवक साधुके लिए रोटी लाने लगी। एक बार वह बीमार पड़ी। उसे चिन्ता हुई कि साधु भूखा रह जायगा। इसलिए उसने अपनी पुत्रीको रोटी लेकर भेजा।

युवक साधुने उस लड़कीको देखा। उसने अबतक कोई स्त्री उस बुढ़ियाको छोड़कर देखी नहीं थी। बुढ़ियाकी बीमारीका पता लग जानेपर उसने पूछा—'तुम्हारे अंग मेरे जैसे क्यों नहीं हैं?'

उस लड़कीने कहा—'पुरुषोंके बच्चे नहीं होते। बच्चे स्त्रीके ही होते हैं। बच्चेको दूध पिलानेके लिए ये अंग हैं। इनमें बच्चा होनेपर दूध भर जाता है।'

युवकने पूछा—'तुम्हारे बच्चा है?'

लड़की—'अभी नहीं है। लेकिन जब कभी होगा, उसे इनकी आवश्यकता पड़ेगी।'

युवक साधु तो भाव-विभोर हो गया। बच्चा हुआ नहीं और उसको भोजन देनेका प्रबन्ध पहिलेसे ही भगवान्‌ने कर दिया। कितना कृपालु है वह!

जीवनमें हमारी रक्षा परमात्मा करता है, भले ही हम यह न देखें। गर्भमें कौन रक्षा करता है? माताके पेटसे बच्चेके पेटमें नली लगाकर उस गर्भस्थ शिशुको भोजन पहुँचानेकी यह अद्भुत

व्यवस्था किस वैज्ञानिकने की है ? 'स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे' वही परमात्मा सबका रक्षक और पालन कर्ता है, जो गर्भमें रक्षा करता है।

महाभारतकी युद्ध-भूमिमें भरद्वाज पक्षीने अण्डे दे रखे थे। हाथी अण्डोंके समीप आया और बाण लगनेसे उसके गलेमें पड़े घंटेकी जंजीर कट गयी। घंटा ठीक ऐसा गिरा कि अण्डे उसके नीचे सुरक्षित हो गये।

'बिभर्ति' श्रुति कहती है—'एष सेतुर्विधरणः' यह परमात्मा स्वयं भवसागरमें डूबते प्राणीके लिए पुल बन गया है। भगवान् ही धर्मकी मर्यादा बनकर आता है। जिसे वह अपने समीप बुलाना चाहता है, उसे बताता है कि 'यह करो, यह मत करो। यह खाओ, यह मत खाओ। ऐसे चलो, ऐसे मत चलो। यह बोलो, यह मत बोलो।' हाथ पकड़कर भगवान् उसे बचा लेता है।

वह भगवान् ही पुल है और पुलपर चलनेके लिए पकड़नेवाला डण्डा भी वही है। पुल हो, डण्डा हो; किन्तु पैरमें चलनेकी शक्ति न हो तो ? वह शक्ति भी भगवान् देता है। 'बिभृ धारण-पोषणायोः' शरीरमें पोषण वही पहुँचाता है। यह देह पञ्चभूतोंसे बना है, अतः देहका पोषण पञ्चभूतोंसे ही होता है। अन्न, जल, वायु, उष्णता और अवकाशका भोजन देहको चाहिए। मनके लिए प्रेमका भोजन चाहिए। रसखानने कहा है—

'जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।'

जिस हृदयमें प्रेम नहीं है, वह श्मशान समझो। वहाँ भूत-प्रेत निवास करेंगे।

बुद्धिका भोजन ज्ञान है। परमात्मा अस्ति, भाति, प्रियके रूपमें सबके हृदयमें रहता हुआ, अस्तिके रूपमें सत्ता प्रदान करता है, भातिके रूपमें प्रकाश—ज्ञान देता है और प्रियके रूपमें आनन्द बनकर सबका पोषण करता है। समष्टिगत अस्ति, भाति, प्रियसे सम्बन्ध न हो तो व्यष्टिका जीवन ही न चले। समष्टिका वायु न मिले तो श्वास कैसे चल सकता है?

परमात्मा तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबको पुष्टि देता है। पुष्टिका अर्थ है कि हमसे भूलपर भूल होती चली जाती है। हमसे पैर रखने तकमें भूल होती है। हम बोलने-हँसने, बैठने-चलने, सोचने-समझने, सबमें भूल ही भूल करते रहते हैं। यह सब होनेपर भी परमात्मा हमारा धारण-पोषण बन्द नहीं करता। बिल न चुकाये जानेपर भी परमात्माकी ओरसे आनेवाली बिजली-की लाइन नहीं कटती। हमारी ओरसे सब प्रकारकी विमुखता होनेपर भी ईश्वर विमुख नहीं बनता। बच्चा माँको मारता है, नोंचता है, दाँतसे काट भी लेता है; किन्तु माता उसे चपत भले मार दे, दूध पिलाना बन्द नहीं करती। इसी प्रकार परमात्मा हमारा पोषण करना कभी नहीं छोड़ता।

तीनों लोकोंका पोषण परमात्मा करता है तो उसका कोष कभी समाप्त भी हो जायगा ? कभी बिजलीकी कटौतीके समान वह पोषणमें कटौती करेगा ? नहीं, 'अव्ययः' उसका कोष कभी घटता नहीं है। उसके कोषको कोई लूट लेगा, चुरा लेगा, यह भय भी नहीं है; क्योंकि 'ईश्वरः' परमात्मा देश, काल, वस्तु सबका स्वामी है।



● *संगति*

अब भगवान् श्रीकृष्ण वेद और लोकमें अपने पुरुषोत्तम नामकी प्रसिद्धिका कारण बताते हैं; क्योंकि स्वरूपज्ञानपूर्वक नामका अनुसन्धान अपूर्व रसका हेतु होता है।

१८

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

क्योंकि मैं क्षरसे परे एवं अक्षरसे भी उत्तम हूँ, अर्थात् क्षर-अक्षर पुरुषका उपाधिके साथ सम्बन्ध है और मैं निरुपाधिक हूँ, इसी कारण मैं लोक और वेदमें पुरुषोत्तमके नामसे प्रसिद्ध हूँ।

'प्रथितः' प्रसिद्ध है अर्थात् मेरा नाम छिपा नहीं है। ईश्वरको लोग कम जानते हैं, उसके नामको ही अधिक जानते हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें बँटवारा हुआ। जीव और ईश्वर मित्र हैं। ईश्वरने कहा—'मेरा नाम तुम ले लो और रूप मेरे पास रहने दो।' जीव उदास हो गया। कोरा नाम लेकर वह क्या करे? तब ईश्वरने रूपको नामके अधीन बना दिया। यह व्यवस्था कर

दी कि भगवन्नामका जो सहारा लेगा, उसके हृदयमें भगवान्का रूप प्रकट हो जायगा। भगवान्के समीप न तो पैरसे चलकर जाना और न उन्हें हाथसे पकड़ना है। नाम लेकर उन्हें पुकारो, वे स्वयं तुम्हारे हृदहमें प्रकट हो जायँगे।

'लोके वेदे च' लोक और वेद दोनोंमें भगवान्का नाम पुरुषोत्तम प्रसिद्ध है। लौकिक दृष्टिसे इसे देखो। लोकमें श्रीकृष्णमें उत्तम पुरुषत्व पाँच कारणोंसे है, १. उत्तम पुरुष वह है, जिससे सब प्रेम करें। परम प्रेमास्पद अपनी आत्मा है। श्रीकृष्ण सबको अपने आत्माके समान प्रिय हैं। २, 'लोकत्रयमाविश्य' अपनी सब प्रकारकी प्रजाके मनकी बात जो जानता हो। किसके क्या विचार, संकल्प आदि हैं, इसे जो ठीक-ठीक जाने। ३. 'बिभर्ति' सबका पालन-पोषण करे। ४. 'अव्ययः' जिसका कोष कभी खाली न हो। ५. 'ईश्वरः' जो सबका शासन कर सके, जिसके शासनको सब मानें। बचपनमें एक श्लोक सुना था—

'साधवो यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति पण्डिताः।
राजानो यं प्रशंसन्ति स पार्थं पुरुषोत्तमः॥'

विद्वान्, साधु तथा नीतिनिपुण राजा—ये तीनों जिसकी एक साथ प्रशंसा करें, पण्डित जिसे महान् विद्वान् बतायें, साधु जिसे महापुरुष कहें और नीतिनिपुण शासक जिसे नीतिशास्त्रका पारंगत कहें, वह पुरुषोत्तम है। राजनीतिज्ञ लोग किसीकी प्रशंसा महात्मा कहकर कहते हैं और साधु किसीको राजनीतिज्ञ बतलाते हैं, इसका कोई महत्त्व नहीं है; क्योंकि राजनीतिज्ञोंको महात्माके

सम्बन्धमें पता नहीं और साधुओंको राजनीतिका ज्ञान नहीं। जो जिस विषयका ज्ञाता है, यदि वह उस विषयमें किसीकी प्रशंसा करे तो प्रशंसा सच्ची मानी जानी चाहिए।

श्रीकृष्णचन्द्रको व्यास आदि महर्षि उनकी उपस्थितिमें ही भगवान् बतलाते थे। भीष्म, द्रोण जैसे राजनीतिके विद्वान् श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें ही उन्हें परम नीति-निपुण घोषित करते थे और उद्धव जैसे विद्वान् जो देवगुरु वृहस्पतिके शिष्य हैं, श्रीकृष्णके सम्मुख शिष्यकी भाँति रहते थे। वे उन्हें भगवान् मानते थे। सर्वथा अद्भुत जीवनकी कल्पना भी कठिन है। भोग, कर्म और ज्ञान, तीनोंकी दृष्टिसे श्रीकृष्णका जीवन परिपूर्णतम है। श्रीकृष्णने कितने विवाह किये, उनको एक विवाहके दहेजमें जो सम्पत्ति मिली, उतनी आज पूरे विश्वमें भी नहीं है। कर्मकी दृष्टिसे सत्की पूर्णता, ज्ञानकी दृष्टिसे चित्की पूर्णता और भोगकी दृष्टिसे आनन्दकी पूर्णता उनमें है। तीनों दृष्टिसे परिपूर्ण होनेके कारण वे पूर्ण सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम हैं।

श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि दूसरोंके कहने-माननेसे मैं पुरुषोत्तम नहीं हूँ। मैं पुरुषोत्तम हूँ, इसलिए वेद मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं और लोक मुझे पुरुषोत्तम कहता है। 'यस्मात्' क्योंकि मैं क्षरसे अतीत हूँ 'क्षरमतीतोऽहम्'। 'यस्मात् अक्षरात् अतीतोऽहम्' क्योंकि मैं अक्षरसे अतीत हूँ, 'यस्मात् क्षरात् उत्तमः' क्योंकि क्षरसे मैं श्रेष्ठ हूँ, 'यस्मात् अक्षरादपि च उत्तमः' क्योंकि अक्षरसे भी उत्तम हूँ। क्षर और अक्षर दोनोंसे अतीत, दोनोंसे उत्तम पुरुषोत्तम है।

सम्पूर्ण महाभारतकी टीका नीलकण्ठजीने की है। महाभारतमें ही गीता है, अतः गीतापर भी उनकी टीका है। उसमें इस श्लोकको टीका करते हुए वे कहते हैं कि यहाँ क्षर तथा अक्षर तत्त्वका नहीं, क्षर अक्षर पुरुषका वर्णन है। अतएव क्षर पुरुषका अर्थ है कार्यकी उपाधि धारण करनेवाला जीव, कार्योपाधिमें रहकर उससे युक्त चेतन। वेदान्तकी परिभाषामें 'त्वं' पदका वाच्यार्थ है, अन्तःकरणमें स्थित आभास चेतन और अक्षर पुरुषका अर्थ है कारणकी उपाधि धारण करके उसमें स्थित ईश्वर—अव्याकृत उपहित चेतन जो 'तत्' पदका वाच्यार्थ है। अविद्याविशिष्ट—अन्तःकरणोपाधिक चेतन जीव क्षर पुरुष और मायाविशिष्ट—कारणोपाधिक चेतन ईश्वर अक्षर पुरुष है। इन दोनों उपाधियोंमें स्थित जीव तथा ईश्वरसे अन्य—विलक्षण तथा इन दोनों उपाधियोंसे अतीत पुरुषोत्तम है। 'तत्' एवं 'त्वं' पदके एकत्वसे लक्षित जो शुद्ध, सर्वावभासक, अपरिच्छिन्न तत्त्व ब्रह्म है, वह पुरुषोत्तम है।

'अहं ब्राह्मणः' मैं ब्राह्मण हूँ, ऐसा जो अहंकार है, उसमें 'ब्राह्मणत्व' उपाधि है। यह उपाधि कहाँसे आयी? देह तो पाञ्चभौतिक है और आकृति मनुष्यकी है। अतः मैं मनुष्य हूँ, यह उपाधि तो प्राकृतिक है; किन्तु मैं ब्राह्मण हूँ, यह उपाधि प्राकृतिक नहीं है। यह उपाधि संस्कृत है। संस्कारके द्वारा यह उत्पन्न की गयी है। ईसाई, मुसलमान आदि सम्प्रदाय हैं। उनमें जाति नहीं होती। उनमें एक पैगम्बर, एक ग्रन्थमें जो विश्वास कर लें—वह उनके सम्प्रदायका। जो बाइबल मान ले और ईसामें विश्वास करे, वह ईसाई। जो कुरान माने और मुहम्मदमें विश्वास करे सो

मुसलमान। लेकिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जाति मान्यता-जन्य नहीं हैं। मान लेने या विश्वास कर लेनेसे कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं हो जायगा। ईश्वरने अपनी प्राप्तिके लिए जो युक्ति शास्त्रमें बतायी है, उसके अनुसार संस्कारके द्वारा लोगोंके थोड़े वर्गको भगवान्‌की ओर बढ़ानेकी यह प्रक्रिया है। इसमें संयम, भोगका कुछ त्याग, कुछ विशेष नियम, जप-तप, कर्तव्य आदिके बन्धन होते हैं।

जैसे संस्कारसे मनुष्य जातिमें 'मैं ब्राह्मण', 'मैं क्षत्रिय' आदि अहंभावकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही क्षर पुरुष और अक्षर पुरुषका विवेक करके, अपने स्वरूपको पहिचानना है। सम्पूर्ण जगत्‌का जो द्रष्टा है, जो समष्टिके मन-बुद्धिका स्वामी है, वह मायापति ईश्वर अक्षर पुरुष है। जीव चैतन्य तथा ईश्वर चैतन्य दोनोंमें जो ऐक्य है, वह अखण्ड चैतन्य पुरुषोत्तम है।

इस देहको तुमने 'मैं' मान लिया है। इस कचरेसे बाहर निकलना है; क्योंकि देहको 'मैं' माननेके कारण ही तुम्हारे सारे दुःख हैं। सभी जानते हैं कि अपना-आपा ही सब कुछ है। अपने आपेके बिना तो न जगत् रहेगा, न प्रकृति और न ईश्वर ही। तुम रहोगे, तभी तो इनका साक्षात्कार करोगे। अब अपना आपा क्या है, इसे ढूँढ़ो।

एक बार महाप्रलयका चिन्तन करो तो आनन्द आजाय। यह दृष्टि संसारको देखते-देखते उसीमें फँस जाती है। जिनके कानके पास बराबर शब्द होता रहता है, वे जब नीरव स्थानपर पहुँचते हैं, गंगा किनारे या श्रीबदरीनाथकी यात्रामें जाते हैं, तब

पता लगता है कि नीरवतामें कितनी शान्ति, कितना आनन्द है। एक बार एक महात्माने मुझसे कहा था—'संसारमें-से केवल मिट्टीका त्याग करके चिन्तन करो। यह चिन्तन करो कि मिट्टी पानीमें मिल गयी। यों तो बिना मिट्टीके पानी भी नहीं रहेगा; क्योंकि ये मिट्टी, पानी आदि जो दीखते हैं, पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत हैं। मिट्टीका अंश न हो तो पानी दीखेगा नहीं; किन्तु मान लो कि मिट्टीका स्थूल रूप पानीमें घुल गया है। अब न पृथिवी है—न पर्वत, न वृक्ष हैं—न लताएँ, पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा कोई नहीं है। न अपना देह है, न दूसरेका देह। 'मैं-मेरा' कहनेको कुछ नहीं है। शत्रु-मित्र बनानेको, राग-द्वेष करनेको कुछ नहीं है। केवल चारों ओर महासमुद्रका जल है। उसमें सूर्य-चन्द्र तथा तारोंका झिलमिल-झिलमिल प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और तुम उसे देख रहे हो। कितनी शान्ति है!

अब ध्यान करो कि जल भी अपने कारण अग्निमें मिल गया। केवल ज्योति है। ज्योति वायुमें और शान्त वायु आकाशमें लीन हो गया: अकाश मनमें, मन ज्ञानमें, ज्ञान बुद्धिमें और बुद्धि अव्याकृत अक्षर पुरुषमें एक हो गयी। व्यष्टि-समष्टिका भेद मिट गया। सर्वकारण कारण ईश्वर रह गया। ईश्वरकी सत्तामें सम्पूर्ण आकृति, उसकी चित्तामें सम्पूर्ण वृत्ति और उसके आनन्दमें सम्पूर्ण भोग डूब गये। अब जो यह ईश्वर रहा, यह अक्षर पुरुष है।

इस प्रकारका चिन्तन वैराग्यहीन व्यक्ति नहीं कर सकता। जिसमें वैराग्य नहीं है, वह अपने शरीरको सुरक्षित रखकर ईश्वरको देखना चाहता है। एक बाबूजी थे, वे कहते थे—मैं

ईश्वरको तब मानूँगा, जब वह मेरे सामने सम्पूर्ण सृष्टिका प्रलय करके फिरसे सृष्टि बनाये।'

एक साधुने पूछा—'ईश्वर प्रलय करेगा, इसे आप कैसे देखना चाहते हो? आप अपना शरीर बचाकर देखना चाहते हो या अपने शरीरका भी प्रलय देखना चाहते हो?'

बाबूजी बोले—'मेरा शरीर तो बचा ही रहेगा। नहीं तो मैं देखूँगा कैसे?'

ऐसा नहीं हुआ करता। शरीरमें 'अहं' भाव ही राग है और वही तो बन्धन है। देहाध्यास भी बना रहे और ईश्वर भी मिल जाय, यह सम्भव नहीं है। सगुण साकार ईश्वरके भक्त भी इस शरीरका राग तो छोड़ ही देते हैं। वे भावमय देहसे भगवान्‌को पाना चाहते हैं। यह जो हड्डी-मांस, रक्त पित्त-कफ, मल-मूत्रका देह है, इसे लेकर भगवान्‌से नहीं मिला जा सकता। यह भगवान्‌से मिलने योग्य नहीं है।

हम कई मित्र एक महात्माके पास गये। उन्होंने उस दिन मौजमें आकर कहा—'वरदान माँगो!' किसीने भक्ति माँगी, किसीने वैराग्य। सांसारिक विषय किसीने नहीं माँगा। हममें-से एकने कहा—'मुझे अभी और बिना किसी शर्तके ईश्वरका दर्शन कराइये।'

उन महात्माने स्वीकार कर लिया। सबको भगवन्नाम—संकीर्तन करनेको कहा। वे स्वयं भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे। खूब रोये। वातावरण बड़ा गम्भीर और पवित्र बन गया। हम

सब उत्सुक हो गये। थोड़ी देरमें वे महात्मा बोले—'भगवान् आगये हैं और दर्शन भी देना चाहते हैं; किन्तु वे कहते हैं कि इसने मेरे दर्शनके लिए कोई साधन-भजन तो किया नहीं है। मैं इसे दर्शन दूँगा तो इसके सब पुण्य समाप्त हो जायँगे। मेरा दर्शन ही सब पुण्योंका फलभोग बनकर मिल जायगा। फिर शेष जीवनमें इसे बचे हुए पापोंका ही फल भोगना पड़ेगा। इसके सारे शरीरमें कुष्ठ हो जायगा। इसकी सब निन्दा करेंगे। इसपर थूकेंगे। रोग, शोक, कष्ट, अपमान ही इसे पूरे जीवन भोगना पड़ेगा। इससे पूछ लो, यदि यह स्वीकार करे तो मैं इसके लिए प्रकट होता हूँ।'

यह बात सुनते ही उन सज्जनका मुख पीला पड़ गया। नेत्र फटे-से हो गये। हाथ-पैर ढीले पड़ गये। वे बोले—'मुझे सोच लेने दीजिये!'

महात्माने पूछा—'तुम चाहते क्या थे?'

वे बोले—'मैं तो समझता था कि भगवान्का दर्शन हो जानेपर मैं भी आपके समान महात्मा हो जाऊँगा। मेरा भी सब लोग सम्मान करेंगे। मेरी पूजा होगी। मुझे बिना माँगे सब सुविधाएँ मिलती रहेंगी।'

इस प्रकार शरीरके सुख-सम्मानके लिए ही लोग ईश्वरको भी चाहते हैं। ऐसे परमात्मा नहीं मिला करता। ईश्वरको प्राप्त करके भी जो देहका ही महत्त्व चाहता है, उसे ईश्वर कैसे मिल सकता है? देहको 'मैं' समझना ही तो ईश्वरकी प्राप्तिमें बाधक है।

ईश्वरको प्राप्त करना है तो देहसे ऊपर उठना होगा। तुम प्रेम, भक्ति, ज्ञान कुछ भी चाहो, देहसे ऊपर उठे बिना इनमें-से किसीकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।

मैंने अंग्रेजी मासिक 'कल्याण कल्पतरु'के 'नेम नम्बरमें' एक घटनाका वर्णन किया है। उन दिनों मैं गोरखपुरमें था। एक दिन बैठकर भगवान् बालमुकुन्दका ध्यान कर रहा था। मार्कण्डेय ऋषिको जैसे भगवान् बालमुकुन्दके दर्शन हुए थे, ठीक वैसा दर्शन ध्यानमें मुझे होने लगा।

'करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥'

मुझे दीख रहा था कि चारों ओर उमड़ता महासमुद्र है और मैं उसकी लहरोंमें पड़ा इधर-उधर डूब-उतरा रहा हूँ। समुद्रमें केवल एक छोटा टीला है। उस टीलेपर एक वटवृक्ष है। उस वट-वृक्षकी एक शाखाके एक पत्तेपर सजल जलद श्यामवर्ण दिगम्बर बालमुकुन्द सोये हैं। उनकी कटिमें रत्न मेखला है, चरणोंमें नन्हें नूपुर हैं, कण्ठमें बघनखा, ललाटपर काजलका टीका और सिरपर घुंघराली अलकें हैं। वे अपने दोनों हाथोंसे दाहिना चरण पकड़कर उसका अंगूठा मुखमें लिये धीरे-धीरे चूस रहे हैं। भगवान् ऐसा क्यों करते हैं, इस विषयमें भक्तोंने कल्पना की है—

'विहाय पीयूषरसं मुनीश्वरा ममाङ्घ्रिराजीवरसं पिबन्ति किम्।
इति स्वपादाम्बुजपानकौतुकी स गोपबालः श्रियमातनोतु नः॥'

भगवान् यह देखनेके लिए अपने चरणको पी रहे हैं कि मेरे

चरणोंमें ऐसा कौन-सा अद्भुत रस है, जिसे अमृतको छोड़कर बड़े-बड़े ऋषि-मुनि पीना चाहते हैं ?

मैं बालमुकुन्दकी उस शोभाका दर्शन कर रहा था। बड़ा आनन्द आ रहा था। उसी समय मेरे मनमें शंका हुई कि भगवान् तो सर्वरूप हैं; फिर वे इस वटवृक्षके एक पत्तेपर ही क्यों हैं ? वे सब पत्तोंपर और समुद्रमें क्यों नहीं हैं ? आकाशमें क्यों नहीं हैं ? तत्काल मुझे उस प्रलय समुद्र और वटवृक्षका दीखना बन्द हो गया। ऊपर-नीचे, अपने चारों आर, जहाँतक मैं देख सकता था, सर्वत्र कण-कणमें बालमुकुन्दके मुझे दर्शन होने लगे। लाखों-करोड़ों-अरबों श्रीकृष्ण दीखने लगे।

फिर मनमें आया कि परमात्मा तो एक ही है। ये असंख्य श्रीकृष्ण क्यों हैं ? दो कृष्णके मध्यमें जो स्थान है, वह क्या है ? यह शंका उठते ही रूपका दर्शन बन्द हो गया। लगा कि एक ही ज्योतिर्मय चैतन्य सर्वत्र परिपूर्ण है। अनेकता है ही नहीं। फिर मेरे मनमें प्रश्न उठा कि यह जो दीख रहा है, वह पूर्ण नहीं हो सकता; क्योंकि उसे देखनेवाला मैं उससे पृथक् हूँ और मैं भी पूर्ण नहीं हो सकता; क्योंकि मुझसे पृथक् यह दीख रहा है। हम दोनों अपूर्ण हैं, दोनोंमें कोई परिपूर्ण नहीं है। इसके पश्चात् भेदका दर्शन भी बन्द हो गया। लेकिन आप इस भ्रममें न पड़ें कि यही ब्राह्मी स्थिति है। यह ब्राह्मी स्थिति नहीं है। हुआ केवल यह कि बुद्धि जो पृथक्ता करनेवाली थी, अपने कारणमें लीन हो गयी। जो बुद्धि पहिले क्षर पुरुषके आश्रयमें स्थित होकर अक्षर पुरुषको विषय

कर रही थी, वह अक्षर पुरुषमें लय हो गयी। इसलिए क्षर और अक्षर दोनोंके पृथक्त्वकी प्रतीति समाप्त हो गयी।

'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्ति अविद्याको ध्वस्त कर देती है, तब वास्तविक ब्राह्मी स्थिति होती है, जिसमें यह बोध होता है कि क्षरपुरुषमें जो सामान्य चेतन है और अक्षर-पुरुषमें जो सामान्य चेतन है, दोनों एक ही हैं। अक्षर पुरुष— कारण तत्त्वमें बुद्धिवृत्तिका लय होना अद्वैतावस्थान है; किन्तु उसे अद्वैतबोध नहीं कह सकते। अद्वैतबोध होनेपर अद्वैतावस्थान हो या द्वैतावस्थान, भेद प्रतीत हो या न हो, बोधपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्षर-अक्षर दोनोंमें जो सामान्य चेतन है, वही पुरुषोत्तम है। द्वैतकी प्रतीति क्षर पुरुष और अद्वैतकी प्रतीति अक्षर पुरुष है। भेदकी प्रतीति मिटनेपर अक्षर पुरुषसे सायुज्य होता है। लेकिन क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष दोनोंकी उपाधिका बाध होनेपर जीव चैतन्य एवं ईश्वर चैतन्यके एकत्वका ज्ञान होनेका नाम बोध है।

श्रीकृष्णका पुरुषोत्तम स्वरूप केवल समाधिकालमें ही नहीं है। वे महाभारतकी युद्धभूमिमें अर्जुनके रथपर तोत्रवेत्रैकपाणि सारथिके स्थानपर बैठे हुए भी पुरुषोत्तम ही हैं। गीतापर अभिनव-गुप्ताचार्यकी एक टीका है। उसमें वे कहते हैं 'केवल समाधि-कालमें ही ईश्वरका साक्षात्कार नहीं होता, व्यवहारकालमें भी ईश्वरका साक्षात्कार होता है।'

'अतोऽस्मिलोके वेदे च' भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोकमें और अपौरुषेय अनादि शब्दराशि वेदमें भी मैं पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ। छान्दोग्य उपनिषद्में परमात्माके लिए उत्तम शब्द आया है। उत्तम पुरुषका सीधा व्याकरणकी दृष्टिसे अर्थ है 'अहं' और वेदमें 'अहं ब्रह्मास्मि'के द्वारा परमात्माका ही वर्णन है। महर्षि वामदेवको गर्भमें ही ज्ञान हो गया था। उन्होंने जो 'अहं ब्रह्मास्मि'का अनुभव किया, श्रुति जो 'अहमेवेदं सर्वम्'के द्वारा जिसका वर्णन करती है, वह 'अहं' पदका अर्थ पुरुषोत्तम ही है।

'लोके' इस शब्दका अर्थ करते हुए श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं—'लोक्यते वेदार्थः अस्मिन्निति लोकः स्मृत्यादयः' जिनके द्वारा वेदोंके अर्थका अवलोकन किया जाता है, वे स्मृतियाँ, पुराण, महाभारत, रामायण 'लोक' कहे जाते हैं। इन सबमें भगवान् श्रीकृष्णका पुरुषोत्तम कहकर वर्णन किया गया है।

कुछ टीकाकार 'लोक' शब्दका अर्थ लौकिक काव्यादि करते हैं। काव्योंमें श्रीकृष्णचन्द्रको पुरुषोत्तम कहा गया है। महाकवि कालिदासका प्रसिद्ध श्लोक है—'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः महेश्वरो त्र्यम्बक एव नापरः।' पुरुषोत्तम कहनेसे एकमात्र श्रीहरिका और महेश्वर कहनेसे भगवान् शंकरका ही बोध होता है। पुरुषोत्तम तो श्रीयशोदास्तनन्धय कंसनिषूदन पार्थ-सारथि श्रीकृष्ण ही हैं।

'प्रथितः प्रथां इतः' इसमें प्रथा कहते हैं प्रसिद्धिको। पुरुषोत्तम नाम भगवान्‌का लोक-वेदमें प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्ता-चार्य कहते हैं—'मूर्तिरूपेण क्रियारूपेण ज्ञानरूपेण पुरुषोत्तम एव सर्वैरनुभूयते।' मूर्तिरूपसे अर्थात् आकृतियोंके रूपमें, क्रियाके रूपमें और ज्ञानके रूपमें जो कुछ अनुभव हो रहा है, वह पुरुषोत्तम ही है। सबके द्वारा इन विभिन्न रूपोंमें पुरुषोत्तमका ही अनुभव किया जा रहा है।

● *संगति*

गीताका यह पन्द्रहवाँ अध्याय पुरुषोत्तम योग अर्थात् पुरुषोत्तमसे मिलनका अध्याय है। बारहवाँ भक्तियोग—प्रेमका है, तेरहवाँ प्रेमास्पदके स्वरूपकी जानकारीका, चौदहवाँ अध्याय प्रेमसे अतिरिक्तके त्याग अर्थात् वैराग्यका और यह पन्द्रहवाँ मिलनका है।

'ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं' 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'से जिस आदि पुरुषका वर्णन किया गया, वही आदि पुरुष पुरुषोत्तम है। 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्' उसीका लक्षण बतलाया गया है। 'ऊर्ध्वमूलम्'में जो 'ऊर्ध्व' है, वही पुरुषोत्तम है। 'उदिति ब्रह्मणो नाम' श्रुति कहती है कि 'उत्' यह ब्रह्मका नाम है। 'उत्' है क्षर ब्रह्म, 'उत्तर' है अक्षर ब्रह्म और उत्तम है शुद्ध ब्रह्म पुरुषोत्तम।

गीता और योगवासिष्ठमें एक समानता है। योगवासिष्ठमें कहा जाता है—'हे रामजी, यह नाम-रूप जगत् तीनों कालमें मिथ्या है। तुम्हीं ब्रह्म हो।' गीतामें कहा जाता है—'यह नाम-रूप जगत् तीनों कालमें मिथ्या है, मैं ही ब्रह्म हूँ।' योगवासिष्ठ 'तत्त्वमसि' का प्रवचन है और गीता 'अहं ब्रह्मास्मि'का। योगवासिष्ठमें जो श्रीरामके रूपमें सम्मुख श्रोता बनकर बैठा है, वही पुरुषोत्तम गीतामें वक्ता बनकर बैठा हुआ है। श्रोतृत्व और वक्तृत्व दोनों सोपाधिक हैं, निरुपाधिक शुद्ध ब्रह्म दोनोंमें एक ही है। अब इस पुरुषोत्तमको जिसने जान लिया, वह कैसा होता है? वह क्या करता है? कैसे रहता है? इस बातको बता रहे हैं।

१९

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

प्रतिभाशाली एवं कुलीन अर्जुन ! जो निर्मानता, निर्मोहता, असङ्गता आदि सद्‌गुणोंसे युक्त बुद्धिमान् पुरुष मुझे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसे विलक्षण प्रत्यक् चैतन्याभिन्न पुरुषोत्तमको जान लेता है, वह सर्वविद् हो जाता है और अपने सब भावोंसे दृश्यमान सर्वभावोंमें मेरा ही भजन करता है।

पूरी गीतामें 'अस्मत्' शब्दका प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। अहं, मया, मम, मयि आदि शब्द अस्मत्के ही रूप हैं। 'अस्मि' हूँ और 'अहं' मैं ये दोनों 'अस्मत्'के ही विवर्त हैं। उर्दूमें अस्मत शब्दका अर्थ इज्जत-प्रतिष्ठा होता है। ईश्वरकी प्रतिष्ठा ही यह जगत् है। संसारकी सभी भाषाओंका सर्वेक्षण करके देखा गया है कि उनमें सबसे अधिक व्यवहृत होनेवाला शब्द 'मैं' है। किसी-किसी भाषामें इसका प्रयोग अस्सी प्रतिशत तक मिला है। अपने दैनिक व्यवहारमें ही हम सबसे अधिक प्रयोग मैं, मेरा, मेरे लिए आदि 'मैं'के रूपोंका ही करते हैं। इस 'यो मामेवं' श्लोकमें 'मां' शब्द दो बार आया है। 'अहं' आत्माका सूचक है और 'आत्मा' शब्दका ही उलटा 'माता' है। अपनी ओरसे देखनेपर जो 'आत्मा' है, विपरीत दृष्टिसे, देह, इन्द्रिय आदिकी ओरसे देखनेपर वही प्रमाता है। यह विपरीत दर्शन ही मूढ़ता है।

'यः असंमूढः पुरुषोत्तमं मां एवं जानाति' सबके लिए पुरुषोत्तमको जानना सुगम नहीं है। उसे तो असंमूढ़ ही जानेगा। 'मैं-मेरा' में फँसा व्यक्ति मूढ़ है। संस्कृतमें उसे गाली दी है—

'जाया मे जननी मे जनको मे बन्धुवर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम्॥'

यह मेरी माता, यह मेरा पुत्र, यह मेरा शरीर, यह मेरी सम्पत्ति, इस प्रकार 'मे-मे' करते—मिमियाते पुरुषरूपी बकरेको कालरूपी भेड़िया एक दिन खा जाता है।

'असंमूढो' जिसके हृदयमें मोह है, वह मूढ़ है। गीतामें भगवान् मूढ़से बहुत असन्तुष्ट हैं। वे मूढ़का मुख नहीं देखना चाहते। 'मूढा जन्मनि जन्मनि, मामप्राप्यैव कौन्तेय' 'मूढोऽयं नाभि जानाति लोको मामजमव्ययम्' मूढ़ पुरुष भगवान्‌को नहीं जानता। वह भगवान्‌का अपमान करता है—'अवजानन्ति मां मूढा मानुषों तनुमाश्रितम्' उससे भजन तो होता नहीं, भगवान्‌का तिरस्कार करता है। अतः मूढ़ताको छोड़कर असंमूढ़ होना चाहिए।

असंमूढ़ होनेसे क्या मिलेगा? 'असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।' असंमूढ़ होते ही सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। 'मैं-मेरा'में फँसकर ही मनुष्य पाप करता है। अतः इनको छोड़कर असम्मूढ़ होते ही पाप छूट जायँगे। 'गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्'। अतएव क्षर-अक्षर दोनोंमें मत फँसो। क्षर केवल व्यक्त जगत् ही नहीं है, 'खं मनो बुद्धिरेव च' ये सब क्षर हैं। कार्य उपाधि जो

कुछ है वह क्षर और कारण उपाधि अविद्या, माया, सब अक्षर है। दोनोंके प्रति जो वैचित्य है, उसे छोड़ दो।

'यः असंमूढः पुरुषोत्तमं मां एवं जानाति' आचार्योंने इसका निरूपण अनेक प्रकारसे किया है। आचार्य दयालु होते हैं। जीवोंका उद्धार करना उनका उद्देश्य न हो तो वे आचार्य ही क्यों कहे जायँ। लोगोंकी रुचिमें, अधिकारमें बहुत भेद है; इसीलिए आचार्यगण भिन्न-भिन्न प्रकारसे निरूपण करते हैं। जैसे श्री बदरी-नाथको यात्राका प्रोत्साहन देनेके लिए एक कहता है—'बड़े मनोरम दृश्य हैं। पर्वतोंकी हरियाली, झरनोंका रूप, मनोहर पक्षी देखते ही बनते हैं।' दूसरा मार्गके पुष्पोंकी सुगन्धका वर्णन करता है। तीसरा झरनोंके—गंगाजीके शब्द, पक्षियोंके कलरव, बाँस और चीड़से निकलनेवाली मनोहर ध्वनिका निरूपण करता है और चौथा तीर्थकी पवित्रताका गान करता है। चारोंका उद्देश्य तुम्हें यहाँसे उठाकर ले चलनेमें है। तुम इनमें किसीको मानकर चल पड़ो। चारों इस देहके नरकसे जहाँ तुम फँसे पड़े हो, बाहर ही निकालनेवाले हैं। इस गड्ढेसे तुम्हें चारों निकालना चाहते हैं। सब उसी परमात्माका वर्णन करते हैं। तुम चल पड़ो तो अवश्य पहुँचोगे। यह मत देखो कि किसके कहनेपर चल रहे हो।

अवश्य ही यह देखना आवश्यक है कि तुम चल रहे हो या नहीं। तुम जहाँ फँसे हो, वहाँसे निकल रहे हो या नहीं। आगे बढ़ते भी हो या जहाँके तहाँ खड़े हो। एक नगरके लोगोंने एक सुप्रसिद्ध महात्मासे दीक्षा ले ली। अब उन्हें अहंकार हो गया—'हम इतने बड़े महात्माके शिष्य हैं, दूसरोंके सत्संगमें

क्यों जायँ ?' वे महात्मा वहाँ आयें नहीं, दूसरोंके सत्संगमें जाना नहीं—अतः ये लोग तो अपने अहंकारसे ही ठगे गये।

श्रीशंकराचार्यजीकी व्याख्या है–'अयं अहमस्मि इति पुरुषोत्तमं जानाति।' जो पुरुषोत्तमको अपने आत्मरूपसे और अपनेको पुरुषोत्तम रूपसे जानता है। यह प्रक्रिया 'तत्' पदार्थ एवं 'त्वं' पदार्थका शोधन करके तत्त्वमस्यादि महावाक्य द्वारा दोनोंके एकत्व-बोधकी है।

श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि क्षर बद्धजीव है, यह अचित् संश्लिष्ट है और अक्षर मुक्त जीव है; क्योंकि यह अचित्से संश्लिष्ट नहीं है, दोनोंके स्वामी पुरुषोत्तम हैं। न क्षर भजनीय है और न अक्षर। क्षर-अक्षर दोनों ही भगवान्‌के विशेषण हैं। भजनीय तो केवल पुरुषोत्तम हैं।

गीतापर श्रीवल्लभाचार्यजीकी टीका प्राप्त नहीं होती। श्रीपुरुषोत्तमजी और श्रीवल्लभ दीक्षितकी टीका इस सम्प्रदायकी मिलती है। इनके अनुसार क्षर जगत् है और अक्षर ब्रह्म। यह निर्गुण, सर्वावभासक ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमका धाम है। जैसे कोई बहुत विशाल, बहुत सुन्दर भवन हो, तो भी महत्त्व भवनका नहीं, भवनमें रहनेवाले उसके स्वामीका है। ब्रह्म धाम है और उसमें रहनेवाले धामी श्रीराधाकृष्ण युगल सरकार हैं। उन युगल सरकार श्रीराधा-कृष्णका भजनीय रूपमें ज्ञान ही पुरुषोत्तमका ज्ञान है।

'स सर्वविद्' पुरुषोत्तमके ज्ञान होनेसे 'सर्वविद्' हो जाता है। सर्वविद्का अर्थ है सर्वज्ञ। श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि

सर्वविद्का यह अर्थ नहीं है कि उसे पृथिवीके सब कीड़ोंकी संख्या ज्ञात हो जाती है, अथवा उसे यह पता लग जाता है कि किसके सिरमें कितने बाल हैं। सर्वविद्का ऐसा अर्थ करना अनर्थ ही कहा जायगा। 'सर्वविद्'का अर्थ है कि उसे मुक्तोपसृप्य श्रीभगवान्से प्रेमके लिए—भजनके लिए जितना ज्ञान आवश्यक है, वह सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वह जान जाता है कि अचिन्त्य अनन्त कल्याण—गुणगण महोदधि, अखिलहेयप्रत्यनीक श्रीनारायणकी प्रपत्ति ही जीवके उद्धारका साधन है। उसे भजनकी रीति तथा त्याज्य कर्मका ज्ञान हो जाता है।

'भजति मां सर्वभावेन' वैराग्यका, भजनका और भजनीयका ज्ञान प्राप्त करके वह सर्वभावसे भजन करता है। ज्ञानीकी पहिचान हो 'सर्वभाव'से भजन करना है। 'सर्वभाव'का अर्थ है कि भजनके लिए जिन भावोंको आवश्यकता है, उपयोगिता है, उन सब भावोंसे। जैसे दास्य—भगवान् मेरे स्वामो हैं, सख्य—भगवान् मेरे मित्र हैं, वात्सल्य—मैं भगवान्का पुत्र हूँ अथवा भगवान् मेरे पुत्र हैं। ये द्विविध प्रकारके भाव वात्सल्यके हैं। माधुर्य—भगवान् मेरे पति हैं, प्रेमास्पद हैं। इन सब भावोंसे वह भगवान्का भजन करता है।

श्रीरामानुजाचार्यजीके सम्प्रदायमें परमभक्ता श्रीगोदाम्बा हुई हैं। तमिल भाषामें उनके गीतोंका स्थान संस्कृतके गीतगोविन्दके ही समान है। उनके गीतोंके संग्रहको 'द्राविडाम्नाय' अथवा 'तमिल वेद' कहा जाता है। भगवान्को अपना स्वामी मानकर उसमें विरहके अलौकिक भावोंसे पूर्ण पद हैं। श्रीगोदाम्बाको आकाश, पृथिवी, जल, गन्ध, वायु आदि सबमें जैसे अपने

प्रियतमकी क्रीड़ा प्रत्यक्ष अनुभव होती है और यह क्रीड़ा करता हुआ भी वह लीलामय छिपा रहता है। उसके श्रीअंगकी गन्ध है वायुमें, उसके पीताम्बरकी चमक है अग्निमें; किन्तु वह छिप गया है। अतः वे वियोग-व्याकुल रुदन करती हैं। यह 'सर्वभाव'से भजन करना है। ऐसी प्रीति हो। मीराबाईकी तन्मयता, गोपियों जैसी व्याकुलता हो, इससे 'सर्वभाव'से भजन होता है। श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि जप, पूजा, ध्यान आदि भगवत्सेवाके सभी भावोंसे वह भजन करता है।

श्रीधरस्वामी दूसरे ढंगसे इस श्लोककी व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि जो असंमूढ़ पुरुष मुझ पुरुषोत्तमको जान लेता है, वह 'सर्वभावेन सर्वात्म समर्पणके द्वारा—हृदयके सभी भावोंसे मेरा ही भजन करता है। उसके हृदयमें जो काम, क्रोध, लोभ, राग आदि भाव आते हैं, उनको भी वह मुझसे ही सम्बद्ध करता है।

नवद्वीपके एक महात्मा वृन्दावन आया करते थे। वे जीवनमें किसी मनुष्यसे बोले ही नहीं। वे अपने साथ युगल सरकारका विग्रह रखते थे और जो कुछ कहना होता, उनसे ही कहते थे। जैसे महात्माजीको प्यास लगे तो भगवान्‌से कहते थे—'आपको प्यास लगी है ? आप जल पीयेंगे ?' साथके भक्त जल लाकर दे देते थे। ठण्ड लगनेपर भगवान्‌से ही पूछते—'आपको ठण्ड लग रहा है ?' यहाँ तक कि कुत्ते भूँकते तो पूछते—'कुत्ते भूँकते हैं, आपको डर तो नहीं लगता ?' इस प्रकार अपने हृदयके सब भावोंका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ लेना सर्वभावसे भजन है।

श्रीधरस्वामी कहते हैं कि 'यः सर्वभावेन भजति स सर्वविद् भवति' जो सर्वभावसे भजन करता है, वह 'सर्वविद्' हो जाता है। सर्वविद्का अर्थ सर्वस्वरूपके ज्ञानसे सम्पन्न। 'येन एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।' श्रुतिके अनुसार जिस एक परमात्म-तत्त्व का जान लेनेसे सब कुछ जान लिया जाता है, उस परमात्माको वह जान लेता है।

श्रीधरस्वामी मानते हैं कि भक्तिसे ही ज्ञान होता है। बिना भक्तिके ज्ञान नहीं होता। वे ज्ञानको भक्तिका फल मानते हैं। श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु ज्ञानको भक्तिका साधन मानते हैं; किन्तु भक्तिको स्वतन्त्र मानते हैं। बिना ज्ञानके भी भक्ति प्राप्त होती है, ऐसा मानते हैं। वे मानते हैं कि भक्तिके बिना ज्ञान अकिञ्चित्कर है, व्यर्थ है।

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥'

बहुत जन्मोंके पश्चात् ज्ञानवान् मेरी शरण लेता है। वासुदेव ही सर्वरूप हैं, ऐसा जाननेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञानकी दृष्टिसे सब वासुदेव ही है, अतः वह 'सर्व भावेन' भजन करता है।

उपनिषद् सर्वभावका प्रतिपादन कैसे करते हैं, यह देखना है। 'अन्नं ब्रह्म' अन्न ब्रह्म है, अतः अन्नसे बना सब भोजन और उससे पुष्ट देह ब्रह्म है। 'भूरसि भूमिरसि'·····'विश्वस्य धाया।' पृथिवीके रूपमें ब्रह्म है। पृथिवी और पृथिवीसे उत्पन्न पर्वत-नदी, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी आदि सबके देह—सब ब्रह्म हैं। 'सलिलमासीताप्रकेत इदं'

जल ब्रह्म है, अतः जितने जलीय तत्त्व हैं, शरीरमें, अन्नमें, फलमें, प्राणियोंमें जितना जलीय भाग है, सब ब्रह्म है। 'अग्निमीले पुरोहितम्' 'अग्ने नय सुपथा राये' अग्नि परमात्मा है, अतः सम्पूर्ण प्रकाश, समस्त उष्णता, तेजस्वियोंका सब तेज परमात्मा है। 'वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' 'प्राणो ब्रह्मेत्युपास्व' विश्वमें जितना वायु है और शरीरधारियोंके भीतर जितनी क्रियाशक्ति है, श्वास है, सब ब्रह्म है। 'नाम ब्रह्मेत्युपास्व' सब नाम ब्रह्म है अर्थात् शब्दमात्र ब्रह्म है। जो मुखसे निकले सो सब ब्रह्म। अब राग-द्वेष, सुख-दुःख, पाप-पुण्यके लिए कहाँ स्थान रहा? ब्रह्मातिरिक्त दूसरी सत्ता है ही नहीं। ब्रह्मको जान लिया तो सब जान लिया।

'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।'

उसे जानकर फिर कुछ और जानना शेष नहीं रह गया। 'सर्वविद्' हो गया। जान लिया तब क्या करेगा? 'सर्वभावेन भजति' पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि और इन सबके विकार ब्रह्म ही हैं। अतः परमात्माका ही वह सर्वरूपमें सेवन करता है। परमात्माके साथ ही व्यवहार करता है। 'मनोब्रह्मेत्युपास्व' मनके सब संकल्प ब्रह्म ही हैं।

'देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥'

मैं देह हूँ, यह अध्यास निवृत्त हो गया और परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया तो जहाँ-जहाँ मन जाता है, सर्वत्र समाधि ही है। सर्वत्र परमात्माका ही ग्रहण हो रहा है। मनमें जो कुछ आता है—घड़ा-कपड़ा, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी—सब ब्रह्म है।

'विज्ञानं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' 'रसो वै सः' जितना बुद्धि-विचार है और जितना सुखानुभव है, सब ब्रह्म है। रसगुल्ला खानेमें जो मजा है, वह सुखके रूपमें ब्रह्म है। फूलको देखा और वह प्रिय लगा। न फूलमें प्रियत्व है और न नेत्रमें। नेत्र और फूल दोनों उपाधि हैं। जिह्वा और रसगुल्लेकी उपाधि पृथक् कर देनेपर जो सुख वहाँ था, वही सुख यहाँ नेत्र और फूलकी उपाधि दूर कर देनेपर है। सुख दोनोंमें एक ही है। जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख इसे कहते हैं कि शब्द-श्रोत्र, गन्ध-नासिका, स्पर्श-त्वचा, रस-रसना, रूप-नेत्रकी उपाधिसे आनन्दमें जो भिन्नता है, यह उपाधियोंमें भिन्नता होनेसे है। इन उपाधियोंको छोड़ देनेपर आनन्द सर्वत्र एक है। यह अद्वितीय आनन्द ही सत्य है। ऐन्द्रियक भेद और विषय भावको छोड़कर देखो तो विषयानन्दरूपसे भी वही ब्रह्म स्फुरित हो रहा है और विषयोंमें वही सत्ताके रूपमें स्फुरित है। इन्द्रियोंमें वही चित्ता—ज्ञानके रूपमें स्फुरित हो रहा है। पुरुषोत्तम ही पुरुषोत्तम है। जिसने इस पुरुषोत्तमको जान लिया, उसने सब जान लिया और उसकी सब क्रिया, सब भाव भजन बन गये।

'सोवत बैठत पड़े उताने। कहै कबीर हम वहै ठिकाने,'

× × ×

'यद् यद् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।'

× × ×

'जहँ जहँ चलउँ सोई परिकरमा जो करउँ सो सेवा।
जब सोवौं तब करउँ दण्डवत जानौं और न देवा॥'

इसी बातको भक्त लोग दूसरे ढंगसे कहते हैं—

'यदिदं दृश्यते किञ्चित् जगत् स्थावर जंगमम् ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥'

जो कुछ भी स्थावर जङ्गमात्मक यह जगत् अनुभवमें आ रहा है, सबके भीतर और बाहर व्याप्त होकर भगवान् नारायण स्थित हैं। श्रीमद्भागवतमें हंस भगवान्ने कहा—

'अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ।'

'सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। इसे भली प्रकार समझ लो।' भक्तिमार्गमें सर्व भगवत्स्वरूप है। सर्वरूपमें भगवान्का दर्शन करना है। अपने हृदयके भाव भी भगवान् हैं। बाहर जो है, वह सब भगवान्, यह 'सर्वविद्' और भीतर जो भाव उठें वे सब भगवान्, यह 'सर्वभाव'से भजन। इस प्रकार बाहर-भीतर सब भगवान्। यह भक्ति है।

तुम जितना भक्तिके विषयमें जानते हो, उतनी ही भक्ति नहीं है। नामजप, कीर्तन, कथा-श्रवण, पूजन, ध्यान, भगवत्प्राप्तिके लिए व्याकुलता, शरणागति अर्थात् भगवान्पर अपनेको छोड़ देना—यह भक्ति है। भगवान्को एक अपने इष्ट रूपमें देखना भक्ति है, सबके भीतर अपने एक इष्ट रूपको देखना भी भक्ति है और सबको भगवत्स्वरूप देखना भी भक्ति है। सबको भक्त समझनेवाला भी भक्त है। भक्तिके विषयमें तुम जितना जानते हो, वह भी भक्ति है और जो नहीं जानते हो, वह भी भक्ति है। भक्तिको

अपनी मतिसे सीमित मत करो। मतिसे सीमित 'मत' हो जाता है। अपने साधनमें दृढ़ निष्ठा रखो, लेकिन भक्ति इतनी ही है, ऐसा मत कहो। भक्ति 'प्रतिक्षण वर्धमान' है। भगवान् उससे भी परे हैं, जितना तुम उनके विषयमें जानते हो। अतः सीमा मत बनाओ। जितना ज्ञात होता जाय उतना आगे बढ़ते जाओ।

'भारत' यह अर्जुनको सम्बोधन है। भगवान् कह रहे हैं कि अर्जुन, तुम तो 'भा' प्रतिभामें रत—स्वयं बुद्धिमान् हो, अतः तुम्हें तो सर्वभावसे मेरा भजन करना ही चाहिए।

'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्' इसमें 'एवं' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह 'एवं' ही इस श्लोकका प्राण है। तुम पुरुषोत्तमको कैसा जानते हो? यदि पुरुषोंमें जो श्रेष्ठ है, उसे पुरुषोत्तम समझते हो तो ठीक है, उसके गुणोंके अनुसार आचरण करो। यदि तुम पुरुषोत्तमको शरण्य, करुणावरुणालय समझते हो तो उनपर विश्वास करो। लेकिन यहाँ 'एवं' गीताके इस पन्द्रहवें अध्यायमें वर्णित ढंगसे पुरुषोत्तमको जाननेकी बात भगवान् कह रहे हैं।

'एवं'का तात्पर्य है 'बहवः पुरुषोत्तमं जानन्ति; किन्तु मां पुरुषोत्तमं न जानन्ति' बहुत-से लोग पुरुषोत्तमको तो जानते हैं, किन्तु मैं पुरुषोत्तम हूँ, यह नहीं जानते। 'केचिद् मामपि पुरुषोत्तमं जानन्ति किन्तु एवं न जानन्ति' कुछ लोग मुझे पुरुषोत्तम तो जानते हैं; किन्तु इस रीतिसे नहीं जानते। 'यः कश्चिद् असंमूढः मां एवं पुरुषोत्तमं जानाति स सर्वविद् भवति। स सर्वभावेन मां भजति।' अर्जुन, तुम्हारी बात तो भिन्न है, तुम तो बुद्धिमान्

'भारत' हो; किन्तु जो कोई साधारण असंमूढ़ पुरुष भो इस रीतिसे मुझे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह 'सर्वविद्' हो जाता है। वह सर्वभावसे मेरा भजन करता है।

कोई साधारण पुरुष, निम्न जाति आदिका व्यक्ति भी 'एवं' इस पन्द्रहवें अध्यायमें वर्णित रीतिसे पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त कर ले तो 'सर्वविद्' हो जायगा। सर्वविद्का अर्थ है सर्वज्ञ और सर्वज्ञ तो एक परमात्मा ही है 'स सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः' कठोपनिषद्की यह श्रुति कहती है कि परमात्मा ही सर्वविद् है। अतः किसीके सर्वविद् होनेका अर्थ है कि वह परमात्मासे एक हो जाता है।

'सर्वभावेन' परमात्माके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, अतः उसके सव भावोंके रूपमें परमात्मा ही है। 'अहमन्नं अहमन्नं अहमन्नम्। अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः।' भोग्य और भोक्ता दोनों परमात्मा ही हैं। भोक्ता-भोग्य, कर्ता-कर्म, ज्ञाता-ज्ञेयका भेद रह नहीं गया। कर्ता और कर्म तो प्रतिभासमात्र हैं। इन सबके रूपोंमें तत्त्व तो परमात्मा ही है। इसलिए जिसने सर्वको जाना, परमात्माके रूपमें ही जाना।



● *संगति*

अब भगवान् इस अध्यायके ज्ञानका फल बतलाते हैं कि इसे जानकर कुछ जानना नहीं रह जाता, कुछ करना शेष नहीं रह जाता। वह कृतकृत्य हो जाता है।

२०

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥

मेरे सच्चे मित्र अर्जुन ! यह गुह्यतम इस पन्द्रहवें अध्यायके रूपमें मैंने स्वयं तुमको बतलाया है। प्रतिभाशाली अर्जुन ! इसे ठीक-ठीक समझकर कोई भी स्त्री-पुरुष सच्चा ज्ञानी हो जायगा और उसके लिए फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहेगा।

इस श्लोकमें अर्जुनके दो सम्बोधन हैं 'अनघ' और 'भारत'। 'भारत'का अर्थ है भरत वंशमें उत्पन्न। कुछ लोगोंमें अपनी तो कोई विशेषता होती नहीं, केवल अपने पिता-पितामहके गौरवका अहंकार करते हैं। लखनऊमें ऐसे बहुत लोग हैं जो काम दर्जीका, जुलाहेका या तांगा हाँकनेका करते हैं; किन्तु बड़ी शानसे कहते हैं कि उनके दादा-परदादा नवाब थे। लेकिन बड़प्पन है तो उनका जो नवाब थे। उनके वंशमें उत्पन्न हो जानेका बड़प्पन तो झूठा

है। अर्जुन भरतके महान् कुलमें उत्पन्न हुए हैं, इतना ही उनका बड़प्पन नहीं है। वे 'अनघ' हैं—निष्पाप हैं, निष्कपट हैं, भगवान्के प्रति सच्चे हैं। कोई धन बहुत होनेसे, उच्च पदाधिकारी होनेसे, बहुत सुन्दर वस्त्र पहिननेसे बड़ा नहीं हो जाता। जिसके जीवनमें पाप जितना कम है, वह उतना बड़ा है। जिसके हृदय-वृन्दावनमें प्रकट होकर श्रीकृष्णने अघासुरको मार दिया, वही अनघ है। अर्जुनके जीवनमें अघ नहीं है। जिसके जीवनमें, जिसके रथपर सारथि बने श्रीकृष्ण बैठे हैं, उसके समीप अघ कैसे आ सकता है?

'अनघ'के द्वारा भगवान् अर्जुनसे कह रहे हैं कि तुम दैवी सम्पत्तियुक्त हो। गीतामें दो प्रकारके प्राणी बताये गये हैं—

'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।'

जैसे बारहवाँ अध्याय प्रेमका, तेरहवाँ प्रेमास्पदके ज्ञानका, चौदहवाँ प्रेमके बाधक विषयोंके त्याग अर्थात् वैराग्यका और पन्द्रहवाँ प्रेमास्पदसे मिलनका अध्याय है, वैसे ही सोलहवाँ अध्याय अर्जुनकी प्रशंसाका, अर्जुनमें सब दैवी सम्पत्ति हैं, इस प्रशस्तिका है। भगवान् कहते हैं—

'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।'

यहाँ मैं अपनी एक पुरानी भूल बतलाता हूँ। उस समय मेरी अवस्था अठारह वर्षके लगभग होगी। घरसे गंगाकिनारे कर्णवास एक महात्माके पास आकर रहता था। उनकी सेवा करता था। उन महात्मासे मिलने जब कोई आता था तो वे

उससे मेरी प्रशंसा करते थे—'यह इतने उच्च कुलका है, ऐसा विद्वान् है, इतना सम्पन्न है, इतना विरक्त है, इतना भजन-साधन करता है,' आदि। उस समय मेरी उन महात्मामें दोष-दृष्टि होती थी। मैं सोचता था—'ये मेरी प्रशंसा करके आनेवालेपर यह प्रभाव डालना चाहते हैं कि मेरे सेवक इस योग्यताके हैं।' पीछे जब समझ आयी, मुझे अपनी इस दोष-दृष्टिके लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

एक दूसरे महात्मा मेरे विषयमें कहते थे—'यह मुझसे बहुत प्रेम करता है। मेरा भी इसमें मोह हो गया है।' मैं सोचता था कि यह बात सच तो है नहीं, फिर ये क्यों ऐसा कहते हैं? उस समय यह बात मेरी समझमें नहीं आयी थी कि महापुरुष साधकों की प्रशंसा उन्हें अधिक प्रोत्साहित करनेके लिए करते हैं, जिससे त्याग, वैराग्य, भजन, सत्संग और सेवामें वह और अधिक लगे। इसमें उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता।

'भारत' यह अर्जुनके श्रेष्ठ वंशका सूचक है। उत्तम वंशमें उत्पन्न लोगोंमें एक आनुवंशिक गौरव होता है। उनमें निष्ठा, आन, दृढ़ता होती है। अपने वंशकी प्रतिष्ठाका उन्हें ध्यान रहता है। अतः हीन कर्म करना वे अपनी, अपने वंशकी हीनता मानते हैं और लक्ष्य प्राप्त करनेमें दृढ़ होते हैं। 'अनघ' और 'भारत'के द्वारा अर्जुनको भगवान्‌ने इस पुरुषोत्तमतत्त्वके ज्ञानका अधिकारी सूचित किया है।

'इति गुह्यतमं शास्त्रं' शास्त्रको 'शासनात् शंसनादपि' शास्त्र कहते हैं। शासनात्मक शास्त्र विधिका निर्देश करता है।

यह करो, यह मत करो, इस प्रकारके नियम बनाता है। यह कानून बनाता है। कर्तंव्य-अकर्तंव्यका निर्णायक शास्त्र शासनात्मक है। शास्त्रका दूसरा रूप है तथ्यका यथावत् निरूपण। जिस वस्तुमें जैसा गुण, जैसे धर्म हैं, उनका ठीक-ठीक वर्णन कर देना। यह शास्त्र शासनके नियन्त्रणमें नहीं होता। जैसे विज्ञानवेत्ताके लिए शासन यह नियम नहीं बना सकता कि तुम इस वस्तुमें यही गुण वताना, यह मत बताना। उसे तो अपनी खोजमें जो ज्ञात हो, उसे ही बताना पड़ेगा।

स्मृतियाँ विधानशास्त्र हैं। वे शासनके लिए विधि-निर्देश करती हैं, इसलिए शास्त्र हैं। स्मृतिने कहा—सूर्योदय और सूर्यास्तके समय सोना उचित नहीं है।

'सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्।'

भगवान् विष्णु भी सूर्योदय अथवा सूर्यास्तके समय सोते रहें तो लक्ष्मीजी उन्हें छोड़कर चली जायँगी। यह विधान है। शास्त्रका यह शासनात्मक रूप है। शास्त्रका दूसरा रूप शंसनात्मक है। जिसमें जगत्, जीव और ईश्वर, इन तीनोंका स्वरूप बतलाया गया है और इन तीनोंमें अनुस्यूत मूलतत्त्वका प्रतिपादन है। वह शंसनात्मक शास्त्र है।

गीताका यह पन्द्रहवाँ अध्याय दोनों प्रकारसे शास्त्र है। इसमें न अकेला शासन है और न अकेला शंसन ही। 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं'में 'यस्तं वेद स वेदवित्' कहनेसे वेदकी प्रामाणिकताका

प्रतिपादन हो गया। 'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि'के द्वारा पाप-पुण्य, धर्म-अधर्मरूप कर्म तथा उनसे प्राप्त होनेवाली गति 'स्वर्ग-नरक'का निरूपण हो गया। 'असंग शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' यह वैराग्यका प्रतिपादन हुआ। 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' यह शरणागतिका वर्णन है। संसार-सागरसे पार होनेके लिए वैराग्य और भक्ति दोनोंका निरूपण हुआ। जीवनमें केवल वैराग्य तथा भक्ति ही नहीं, सद्‌गुण भी चाहिए, अतः 'निर्मानमोहा'के द्वारा सद्‌गुणोंका प्रतिपादन भी इसमें हुआ। यह संसार सुख-दुःख देनेवाले द्वन्द्वोंसे पूर्ण है, अतएव इससे छूटनेके लिए परमात्मतत्त्वके ज्ञानकी जिज्ञासा होनी चाहिए। 'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' आदिके द्वारा जिज्ञासाका प्रतिपादन किया। इस प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति परक दोनों ही धर्मोंका इसमें वर्णन होनेसे यह शास्त्र है।

शंसनका कार्य भी इस शास्त्रमें है। जीवका स्वरूप 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि', जीवकी गति 'शरीरं यदवाप्नोति'के द्वारा बतलाकर उसके बन्धनका हेतु भी बतलाया। अन्तःकरणकी उपाधिको अपनेमें स्वीकार करके ही जीव फँसा है। 'विमूढा नानुपश्यन्ति' और 'यतन्तो योगिनश्चैनं' के द्वारा इस बन्धनसे छूटनेका, साधनका निरूपण हो गया। 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'के द्वारा ईश्वरके स्वरूपका वर्णन किया गया। दूसरी रीतिसे 'तत्' पदार्थ ईश्वरका, 'त्वं' पदार्थ जीवका और उपाधिका—जगत्‌का निरूपण करके फिर दोनोंमें जो एक अधिष्ठान तत्त्व है, उसका निरूपण किया। इसलिए 'शास्त्रं' यह शास्त्र ग्रन्थ है।

शास्त्रीय ग्रन्थ दो प्रकारके होते हैं, शास्त्रग्रन्थ और प्रकरण

ग्रन्थ। जो ग्रन्थ शास्त्रके एक अंशको लेकर जीवनके एक भागके लिए उपयोगी निरूपण करता है, उसे प्रकरण ग्रन्थ कहते हैं। जैसे विचारसागर, पंचदशी आदि प्रकरण ग्रन्थ हैं।

वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, गीता, वेद, पुराण आदि प्रकरण ग्रन्थ नहीं, ये शास्त्र हैं। शास्त्र उसे कहते हैं जो मनुष्य जीवनके उपयोगी सभी विषयोंका निरूपण करे। जिसमें केवल संन्यासीके, मुमुक्षुके धर्मका निरूपण हो, वह प्रकरण ग्रन्थ है; लेकिन बाल्यकालसे लेकर मृत्युपर्यन्त सम्पूर्ण जीवनके उपयोगी विषयोंका जिसमें निरूपण हो, वह शास्त्र है। जीवनमें केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ नहीं है। अर्थ, धर्म और काम भी पुरुषार्थ हैं। जीवनमें अर्थ, धर्म, कामकी भी आवश्यकता है, उपयोगिता है। अतएव शास्त्र वह है जिसमें चारों वर्ण चारों आश्रमके उपयोगी धर्मका निरूपण हो। चारों पुरुषार्थोंका प्रतिपादन हो।

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' यह गीतामें काम पुरुषार्थका निरूपण है। 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते' यह धर्म पुरुषार्थका निरूपण है। गीतामें मोक्षपुरुषार्थका निरूपण तो प्रधान रूपसे है ही। गीताशास्त्र है, उसमें कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान, इन सबका निरूपण है। कर्मयोग अर्थात् प्रवृत्तिका भी उसमें निरूपण है और संन्यासयोग अर्थात् निवृत्तिका भी उसमें निरूपण है।

'गुह्यतमं शास्त्रं' गुह्यशास्त्र धर्मशास्त्र है। गुह्यतर शास्त्र उपासना शास्त्र है और गुह्यतमशास्त्र पुरुषोत्तमतत्त्वका ज्ञान है। ज्ञान ही गुह्यतम शास्त्र है। भगवान्‌ने गीतामें ही कहा—'इदं

तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे' 'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्य-तरं मया।' अथवा सम्पूर्ण गीता ही गुह्यतम शास्त्र है। गीताको सुनाकर अन्तमें संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवाने-तद् गुह्यमहं परम्' इस गीता शास्त्रमें केवल साधनका ही निरूपण नहीं है, जीव-जगत् तथा ईश्वरतत्त्वका, कार्य-कारण तत्त्वका निरूपण करके उनमें अधिष्ठान रूपसे विद्यमान ब्रह्मका प्रतिपादन है। सम्पूर्ण गीताके समान यह गीताका पन्द्रहवाँ अध्याय भी गुह्यतमशास्त्र है।

'इदं मया उक्तं' इसमें वक्ताके स्वरूपको बताकर वर्णनकी प्रामाणिकता बता दी गयी। कोई कहे कि मैंने किसीसे सुना है, दूसरा कहे कि मैंने पड़ोसीसे सुना है, तीसरा कहे कि मैंने स्वयं सुना है और जिसके सम्बन्धकी बात हो, वह स्वयं कहे, इसमें प्रामाणिकता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। व्यासजी ने और दूसरे ऋषियोंने पुरुषोत्तम तत्त्वका वर्णन किया है; किन्तु यहाँ स्वयं पुरुषोत्तम अपने स्वरूपका वर्णन करनेवाले हैं। अतएव यहाँ वर्णन महत्त्वपूर्ण हो गया।

जब कोई बात संसारके सम्बन्धमें कही जाती है, तब उसमें साक्षी होता है। उसकी प्रामाणिकताकी जाँच वहाँ जाकर की जा सकती है; किन्तु जब बात परमार्थ तत्त्वके सम्बन्धमें कही हो तो केवल कहनेवालेकी प्रामाणिकतासे ही बात प्रामाणिक होती है; क्योंकि परमार्थ तत्त्वको किसी भी इन्द्रियसे जाना नहीं जा सकता। उसमें किसीकी साक्षी नहीं बन सकती। मन और इन्द्रियोंकी भी उसमें पहुँच नहीं है। अतएव परमार्थके विषयमें अनुभवी पुरुषकी बातपर ही विश्वास करना पड़ता है। यहाँ स्वयं पुरुषोत्तम वक्ता हैं, अतः उनकी बातकी प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है।

'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्' इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् हो जाता है, इसमें 'बुद्धिमान्'का क्या अर्थ है ? संसारमें बुद्धिमान् तो बहुत हैं। कोई पैसा कमानेमें बुद्धिमान् है, कोई पढ़ने-पढ़ानेमें बुद्धिमान् है। संसारमें अनेक कार्य हैं और उनमें बुद्धिमान् भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। गीतामें ही बुद्धिमान्की परिभाषा आयी है—

'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥'

जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वह मुक्त है और उसने सब कर्म कर लिये। इसका तात्पर्य है कि जो अपनेको कर्ता-भोक्तापनसे पृथक् अकर्ता-अभोक्ता रूपमें जान ले, वह बुद्धिमान् है। बुद्धि स्वयं भगवान् हैं—'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि' अतएव बुद्धिमान्का अर्थ है भगवत्तत्त्वको प्राप्त पुरुष।

'अनघ' और 'भरत' इन दोनों सम्बोधनोंके द्वारा भगवान्ने सूचित किया कि अर्जुन पवित्र वंशमें उत्पन्न हैं तथा स्वयं पवित्र हैं। अतः वे पुरुषोत्तमतत्त्वके श्रवणके अधिकारी हैं। यदि अधिकारीका निरूपण न हो तो 'गुह्यतम' कहना व्यर्थ हो जायगा। गोपनीय बात चाहे जिससे नहीं कही जा सकती। फलस्वामित्व ही अधिकारित्व है। जैसे किसी व्यक्तिने किसी दूसरे व्यक्तिके खेतको जोता-बोया; किन्तु जब फसल काटनेका समय आया तो भूमिके स्वामीने कह दिया—'तुम कौन होते हो ? भूमि मेरी है, अतः फसल भी मेरी है।' इसलिए अधिकारी वही है जो फलका स्वामी बन सके। जिसे सुनाया जा रहा है, वह सुनकर

उसे धारण कर सके तब वह अधिकारी है। कोई बहुत दिनोंसे वेदान्तका श्रवण करता हो और उसे कोई कह दे—'तुम तो सुखी-दुःखी होनेवाले हो, पाप-पुण्यके कर्ता हो, तुम्हारा जन्म-मरण कहाँ छूटा है ?' और यह सुनकर वह चिन्तित हो उठे, तो वेदान्त-श्रवणका फल कहाँ मिला उसे ? परिच्छिन्नताका भ्रम उसका नहीं मिटा। वैसे वेदान्त-श्रवण करके वह जैसा ब्रह्म है, वैसा ही ब्रह्म ऊँट भी है। शम-दमादि साधनसम्पत्तिसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया हो और 'तत्' पदार्थ तथा 'त्वं' पदार्थका शोधन हो चुका हो, तब 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य-श्रवणसे जैसी ब्रह्माकार वृत्ति होती है, वैसी वृत्ति यदि नहीं हुई तो वेदान्तका बार-बार श्रवण करनेवाले तथा ऊँट, हाथी आदि पशुओंमें क्या अन्तर है ? ब्रह्म तो दोनों हैं ही। विशेषता तो अविद्यानिवर्तक वृत्तिकी उत्पत्तिमें है। वैसे श्रवण करते-करते भी अधिकार आता है। अतः श्रवण व्यर्थ नहीं है। अर्जुन श्रवणका अधिकारी है, यह भगवान्‌ने 'अनघ' और 'भारत'से सूचित किया।

'मया उक्तं' श्रोताका अधिकार बताकर वक्ताका महत्त्व बतलाते हैं। वक्ता वही हो सकता है, जो पुरुषोत्तम हो। आचार्य कौन है ? भगवान् कहते हैं—'आचार्यं मां विजानीयात्' आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझो और उन्हें मनुष्य मानकर कभी उनका अपमान मत करो। श्रीमद्भागवतके सप्तम स्कन्धमें देवर्षि नारदजीने प्रह्लादको बताया—

'यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य मन्ये कुञ्जरशौचवत्॥'

ज्ञानका प्रकाश देनेवाले गुरुदेव साक्षात् भगवान् हैं। जो

दुर्बुद्धिके कारण उन्हें मनुष्य समझता है, उसका सब अध्ययन हाथीके स्नानके समान है। हाथी पहिले तो खूब स्नान करता है; किन्तु जलसे निकलकर अपने शरीरपर खूब धूल डाल लेता है। अतः उसको स्नानसे कोई स्वच्छता प्राप्त नहीं होती।

इस ज्ञानका वक्ता मैं हूँ, इसलिए भी उपदेशका प्रामाण्य है। क्योंकि में वेदान्तकृत् हूँ, इसलिए मेरी वाणी वेदान्तसमन्वित है। मैं वेदवित् हूँ, इसलिए वेदोंका जो परम एवं चरम तात्पर्य है, वही मैं सुना रहा हूँ। जो अधिष्ठान सहित प्रपञ्चको जानता है, वही वेदवित् होता है। मैं तो स्वयं सर्वाधिष्ठान ही हूँ।

प्रपन्नपारिजात तोत्रवेत्रैकपाणि ज्ञानमुद्र पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे अपना ठीक-ठीक परिचय बतलानेके बाद कि 'मैं ही पुरुषोत्तम ब्रह्म हूँ,' जब यह कहते हैं कि इस गुह्यतम शास्त्रका वक्ता मैं हूँ तब इस शास्त्रकी महत्ता, प्रामाणिकता सारवत्तामें अपने-आप ही चार चाँद लग जाते हैं। इसी उद्देश्यसे भगवान्ने यहाँ कहा है—'मया उक्तं'।

'गुह्यतमं' सबके ही जीवनमें कुछ-न-कुछ बात गोपनीय होती है। माताकी बात पत्नीसे और पत्नीकी बात मातासे छिपानी पड़ती है। परमात्माका ज्ञान ऐसा नहीं है कि उसे बाजारमें कहते फिरा जाय। 'मुझे ईश्वरका दर्शन हुआ है' यह बात गुप्त रखनेकी है, सबको बतलानेकी नहीं है। किसी अत्यन्त प्रिय, श्रद्धालु अधिकारीसे ही यह कहा जाता है।

'स बुद्धिमान् मनुष्येषु कृतकृत्यश्च' बुद्धिमान् होनेसे ही वह कृतकृत्य है। कर्तव्य, करणीय और कृत्य ये तीनों शब्द एकार्थक हैं।

जीवनमें इतने कर्तव्य हैं कि उन्हें कोई व्यक्ति पूरा कर ही नहीं सकता। अधूरे कर्तव्य उसे छोड़ने पड़ेंगे और कर्तव्य अधूरे रहेंगे तो उनके लिए वह पश्चात्ताप करता हुआ ही मरेगा।

मेरे एक मित्र मुझसे गोरखपुरमें मिलने आये। वे वाराणसीके थे और कांग्रेसके नेता थे। उस समय वे पागल जैसे हो रहे थे। वे कहते थे—'मैं सत्याग्रह आन्दोलनमें लगा रहा और मेरी पत्नी ठीक चिकित्साके बिना मर गयी।'

उन्हें मैंने समझाया कि जिस पत्नीको सुख पहुँचानेका कर्तव्य तुमने उसके जीवनमें पूरा नहीं किया, अब उसको सुख पहुँचानेका कर्तव्य पूरा करो। उसके निमित्त जप करो, गीता-रामायणका पाठ करो, दान करो, ब्राह्मणोंको भोजन कराओ। यह सब करनेसे उनका पागलपन दूर हो गया।

'कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्॥'

यह कर्तव्य रह गया, यह पूरा करना है, इस प्रकार कर्तव्यके दुःखरूपी सूर्यकी ज्वालासे जिनका अन्तःकरण जल रहा है, उन्हें सुख-शान्तिका अमृत कैसे प्राप्त हो सकता है?

माता-पिता, भाई-मित्र, पत्नी-पुत्र ही नहीं, ऐसे सम्बन्धी भी होते हैं जिनके सम्बन्ध तकका स्मरण नहीं रहता। कोई सम्बन्ध है—इतने स्मरणसे ही उनके प्रति भी कर्तव्य हो जाता है। अपने प्रति, सम्बन्धियोंके प्रति, गुरुके प्रति, शिष्यके प्रति, पड़ोसीके प्रति, जातिके प्रति, देशके प्रति, धर्मके प्रति, देवताओंके

प्रति—इतने कर्तव्य हैं व्यक्तिके साथ कि उन सबका निर्वाह वह कभी कर ही नहीं सकता। इसलिए इन कर्तव्योंसे छुटकारा पानेके लिए समझदार बनना होगा।

मनुष्यपर देवताओंका ऋण है; क्योंकि सूर्य प्रकाश देता है, अग्नि उष्णता देता है, वायु प्राण देता है। हमारी इन्द्रियोंमें देवता ही शक्ति देते हैं। ऋषियोंका ऋण हमपर है; क्योंकि हमने जो कुछ सीखा-पढ़ा है, सब ऋषियोंकी परम्परासे आया ज्ञान है। पितरोंका ऋण तो स्पष्ट है; क्योंकि माता-पिताने हमको पाला-पोसा। इस प्रकार इन सबके प्रति हमारे कर्तव्य हैं। स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए कर्तव्य, योग या भक्तिके लिए कर्तव्य तथा ज्ञान-प्राप्तिके लिए भी कर्तव्य है। भगवान्‌ने कहा कि सब कर्तव्योंसे, सब ऋणोंसे छूटनेका उपाय है।

'देवर्षि भूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥'

श्रीमद्भागवतमें वह उपाय बतलाते हुए शुकदेवजी कहते हैं—

राजन्! जो कोई भी अपने कर्तव्य-बन्धनको काटकर सर्वात्मना शरणागतवत्सल भगवान् मुकुन्दकी शरण ग्रहण कर लेता है, वह देवता, ऋषि, प्राणी, गुरुजन, नर, पितर—किसीका भी ऋणी नहीं रहता और न तो किंकर ही रहता है अर्थात् वह सम्पूर्ण ऋणानुबन्धों और कर्तव्योंसे मुक्त हो जाता है।

चारों वर्णोंके चार उत्तरदायित्व होते हैं। शूद्रका उत्तरदायित्व कर्म है, अपने उत्तरदायित्वसे मुक्त होनेपर उसे कृतकृत्य कहा जाता है। वैश्यका उत्तरदायित्व अर्थोपार्जन है। अपने उत्तरदायित्वसे

मुक्त होनेपर उसे प्राप्तप्राप्तव्य कहा जाता है। क्षत्रियका उत्तरदायित्व रक्षण है। इससे मुक्त होनेपर उसे लक्षितलक्ष्य कहा जाता है और ब्राह्मणका उत्तरदायित्व ज्ञान है। इससे मुक्त होने—जिज्ञासासे ऊपर उठ जानेपर उसे ज्ञातज्ञातव्य कहा जाता है।

कर्म, अर्थ, रक्षा और ज्ञान—इन चारोंके उत्तरदायित्वसे छूटकर मनुष्यको परमात्माको पाना है। जानना, पाना, छोड़ना और करना—ये चार प्रकारके कर्तव्य हैं। जिसने इस गीताके पन्द्रहवें अध्यायमें वर्णित पुरुषोत्तमतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया, उसे अब कुछ जानना शेष नहीं रहा, कुछ पाना शेष नहीं रहा, कुछ छोड़ना शेष नहीं रहा और कुछ करना शेष नहीं रहा। वह कृतकृत्य हो गया। सब अनर्थोंसे मुक्त हो गया—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यम् अस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

ज्ञानामृतसे तृप्त कृतकृत्य योगीके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। जिसके कर्तव्य शेष हैं, वह तत्त्वज्ञानी ही नहीं है।

इस गुह्यतम शास्त्रके ज्ञानसे मनुष्य बुद्धिमान् अर्थात् सच्चा ज्ञानी हो जाता है। पहले भी कहा है—'स बुद्धिमान् मनुष्येषु।' सच्चा ज्ञानी होनेका अर्थ है—जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है, उसको जान लिया। इसीलिए तो वह कृतकृत्य हो गया। कृतकृत्य होनेका अर्थ है कि अब उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा। अनादि कालसे जीव परमात्माको न जानकर अपनेको कर्ता—भोक्ता मानकर—'यह करूँगा तो यह पाऊँगा' इस प्रकार भोग-रोग एवं संयोग-वियोगके चक्रमें पड़कर नाना प्रयोग कर

रहा है। न भोगवासना मिटती, न कर्मोंका चक्र पूरा होता। इस प्रकार तो यह सर्वदा इसी पाशमें बद्ध रहेगा। जब यह तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करता है, तब अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेसे कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी भ्रान्ति मिट जाती है। सारे कर्तव्य तभी तक रहते हैं जबतक आत्मा-परमात्माकी एकताका अज्ञान है। अज्ञान मिटते ही अन्य बाधित हो गया, कर्तापन और भोक्तापन भी बाधित हो गया। फिर तो कर्तव्य भी बाधित हो गये। वस्तुतः यह अनादि-कालीन और नित्य प्राप्त होनेवाले सम्पूर्ण कर्तव्योंकी पूर्णता ही है; क्योंकि कुछ पाना शेष नहीं रहा तो वासना भी नहीं रही। उसके न होनेपर उसकी पूर्तिके लिए प्रयत्नरूप कर्म और कर्तव्य भी नहीं रहे। कर्तव्यका सम्पूर्ण सम्बन्ध कर्ताके साथ है। वस्तुतः कर्तृत्वकी निवृत्ति ही कर्तव्यकी निवृत्ति है। कर्तृत्वकी निवृत्ति अकर्ता आत्माके ज्ञानसे होती है। अकर्ता-अभोक्ता चेतन साक्षी है। साक्षी देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य ब्रह्म ही पुरुषोत्तम है। इसलिए इस पुरुषोत्तमका ज्ञान ही कृत-कृत्यताका हेतु है। इसी ज्ञानकी प्राप्ति करके जीव अपने जन्म-जन्मके कर्तव्योंको पूरा कर लेता है और कृतकृत्य हो जाता है।



ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

❋ सत्साहित्य पढ़िये ❋

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं संस्था द्वारा प्रकाशित अनुपम आध्यात्मिक साहित्य

१.	माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरम)	१०.००
२.	माण्डूक्य-प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण)	७.५०
३.	माण्डूक्य-प्रवचन (अद्वैत प्रकरण)	४.५०
४.	अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	६.००
५.	कठोपनिषद्-प्रवचन—१	९.००
६.	कठोपनिषद्-प्रवचन—२	१२.००
७.	मुण्डकसुधा	३.७५
८.	सांख्ययोग (दुसरा अध्याय)	९.७५
९.	कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
१०.	ध्यानयोग (छठा अध्याय)	६.००
११.	ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय)	९.००
१२.	विभूतियोग (दसवाँ अध्याय)	५.२५
१३.	भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय)	६.००
१४.	ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (तेरहवाँ अध्याय)	९.७५
१५.	नारद भक्ति-दर्शन	९.००
१६.	गोपियोंके पाँच प्रेम गीत	०.४०
१७.	भागवत विचार-दोहन	३.००
१८.	भक्ति-सर्वस्व	१०.००
१९.	मोहन नी मोहनी (गुजराती)	०.६०
२०.	श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
२१.	श्रीभक्तिरसायनम् (संस्कृत)	१२.००
२२.	श्रीभक्तिरसायनम्-प्रपा (संस्कृत)	३.००
२३.	गीता-दर्शन—१	५.५०
२४.	गीता-दर्शन—२	५.००
२५.	गीता-दर्शन—३	४.००

२६. गीता-दर्शन—४	५.००
२७. गीता-दर्शन—५	५.००
२८. साधना और ब्रह्मानुभूति	५.२५
२९. चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान	१.५०
३०. महाराजश्रीका एक परिचय (गुजराती)	१.९०
३१. महाराजश्रीका एक परिचय	१.००
३२. आनन्दवाणी, भाग ५ (गुजराती)	२.२५
३३. आत्मबोध	३.००
३४. कपिलोपदेश	३.७५
३५. व्यवहार और परमार्थ	३.७५
३६. मानव-जीवन और भागवत-धर्म	४.५०
३७. राम शताब्दी-स्मृति	१०.००
३८. वेणुगीत	३.००
३९. ईशावास्य-प्रवचन	४.००
४०. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-१	१०.००
४१. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-२	१०.००
४२. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-३	१०.००
४३. विवेक कीजिये	५.५०
४४. विवेक कीजिये—२	९.००
४५. ज्ञान-निर्झर (श्री डोंगरे जी)	०.९०
46. Glimpses of Life Divine	1.50
47. An introduction to a realised Soul	0.40
48. Ideal and Truth	5.25

बृहद् सूची-पत्र निम्नलिखित पतेपर माँगें—

— सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट —

'विपुल' २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग, मालाबार हिल

बम्बई—४००००६

फोन । ८१७९७६



❀ सत्साहित्य पढ़िये ❀

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महारा
विरचित एवं संस्था द्वारा प्रकाशित अनुपम आध्यात्मिक स

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरण)	
२. ईशावास्य-प्रवचन	
३. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-१	
४. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-२	
५. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-३	१०.००
६. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
७. ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय)	६.००
८. नारद भक्ति-दर्शन	९.००
९. भक्ति सर्वस्व	१०.००
१०. श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
११. वेणुगीत	३.००
१२. महा[illegible]का एक परिचय	१.००
13. Glimpses of Life Divine	1.50

बृहद् सूची-पत्र निम्नलिखित पतेपर माँगें—

— सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट —

'विपुल' २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग, मालाबार हिल

बम्बई—४००००६

फोन । ८१७९७६